प्रथमावृत्ति

१००० प्रति



मूल्य २।)

प्रकाशक
श्री साधुमार्गी
जैनजवाहर मंडल
मन्दसौर (मालवा)

मुद्रक
वीरेन्द्र कुमार सक्सेना
एज्यूकेशनल प्रेस
बीकानेर

विषय सूची

प्रकाशक का निवेदन

श्री साधुमार्गी जैन जवाहिर मण्डल मन्दसौर की स्थापना वि० संवत १९९९ वीर संवत २४६८ की आश्विन शुक्ला ३ के दिन हुई थी। मंडल ने अपने शैशव काल में ही यह प्रवृत्ति आरंभ करदी है। इस मण्डल ने पहिले चौथी किरणावली 'जीवन धर्म' के नाम से सन् १९४६ में प्रकाशित कराई थी अब यह दूसरा अवसर है कि वह स्वर्गीय जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलाल जी महाराज के अनमोल व्याख्यान-साहित्य के प्रकाशन में सक्रिय योग दे रहा है। आशा की जाती है कि वह भविष्य में अधिक सेवा करने योग्य सिद्ध होगा।

प्रस्तुत किरण श्री जवाहिर-साहित्य-समिति भीनासर (बीकानेर) की ओर से छप रही थी। हमारी मांग पर समिति के माननीय मंत्री और अपनी समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता श्रीमान् सेठ चंपालाल जी साहब बांठिया ने मंडल को प्रकाशनार्थ दे देने की उदारता प्रकट की है। एतदर्थ हम समिति के और श्री बांठिया जी के आभारी हैं। छपाई की

या अन्य किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए सूचना मिलने पर अगले संस्करण में सुधार किया जा सकेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मंडल अपने शैशव काल में ही है। विशेष आर्थिक बोझ उठाने की उसकी शक्ति नहीं है। अतएव आशा है कि समाज-प्रेमी सज्जन अपने सहयोग से मंडल को उपकृत करते रहेंगे और कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढ़ाएँगे।

सजनलालजी मेहता
करजूवाला मंदसौर
प्रेसीडेन्ट

नानालाल जरक
मन्त्री

दो शब्द

स्व० जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलाल जी महाराज के व्याख्यानों के आधार पर 'जामनगर के व्याख्यान' के नाम से यह तेईसवीं किरण पाठकों के करकमलों में पहुंचाते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस किरण में जामनगर के उन्हीं विशिष्ट व्याख्यानों को संगृहीत किया गया है, जो अभी तक कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए थे। अतएव आशा है, पूज्यश्री के विचारों के प्रति प्रीति एवं आस्था रखनेवाले पाठक इस किरण को भी उसी चाव से अपनाएंगे, जैसे पहले की किरणों को अपनाते रहे हैं।

यह किरण मन्दसौर-मण्डल की ओर से प्रकाशित की जा रही है। यह मण्डल यद्यपि बाल्यावस्था में है, फिर भी इसके कार्य-कर्ताओं का उत्साह और लगन सराहनीय है। पहले चौथी किरण भी इसी मण्डल ने प्रकाशित की थी। मण्डल

के सभापति जी और मंत्री जी ने मेरा आभार इसलिए माना है कि मैंने उन्हें इसे प्रकाशित करने का अवसर प्रदान किया है। मगर वास्तव में उनका आभार मुझे स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि उन्होंने अपना योग देकर मेरा बोझ हलका कर दिया है। अन्यान्य मण्डल और संस्थाएं इस मण्डल का अनुकरण करें, वह अभीष्ट है। पूज्यश्री की तात्विक और उपकारक वाणी के प्रचार में योग देना प्रत्येक के लिये सौभाग्य की बात होनी चाहिये।

प्रकाशक, सम्पादक और संग्राहक (श्रीहितेच्छु-श्रावक मण्डल, रतलाम) को धन्यवाद है, जिन सबकी सहायता से हम इस साहित्य सेवा के कार्य में सफल हो सके हैं।

निवेदक:—

चम्पालाल बांठिया,
मन्त्री
श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर
बीकानेर
१८-६-४९

आत्मा और परमात्मा

श्री सुबुद्धि जिनेश्वर वन्दिये रे, प्राणी ।

परमात्मा की प्रार्थना करने का रहस्य गहरा है। उस रहस्य तक मनोभाव की पहुच भी कठिनाई से ही होती है तो शब्दों की पहुंच सरलता से कैसे हो सकती है? फिर भी शब्दों का प्रयोग किये बिना काम नहीं चलता। संसार मे शब्दों को छोड़ कर और क्या साधन है कि कोई अपने मन के भावों को प्रकट करे? अतएव इतना कहता हूँ कि आत्मा पर चढ़े हुवे आवरणों को हटाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। आत्मा के मौलिक स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि वास्तव में आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं है। जो अन्तर आज मालूम हो रहा है यह औपाधिक है। वह बाह्य कारणों से उत्पन्न हुआ है। वह बाह्य कारण आठ कर्म हैं। आठ कर्म आत्मा के वैरी हैं। इन्होंने आत्मा के असली स्वरूप को ढँक दिया है। आत्मा को राजा से रंक बना दिया है। साधारण लोग दूसरे व्यक्तियों

को अपना वैरी समझते हैं मगर उन्हें वास्तविकता का पता नहीं है। जिसे वास्तविकता का भान हो जाता है, उसके मन में तनिक भी संदेह नहीं रहता कि कर्म-आवरण के सिवाय आत्मा का शत्रु और कोई नहीं है। इन्हीं वैरियों को हटाने के लिए ही परमात्मा की स्तुति की जाती है।

आत्मा के शत्रु परमात्मा की प्रार्थना करने से कैसे दूर भाग जाते हैं ? इस प्रश्न का समाधान यह है। शत्रु जब शक्तिशाली होता है और उसे पराजित करने का अपने में सामर्थ्य नहीं होता तो किसी बड़े की शरण ली जाती है। महान् शक्तिशाली बड़े की सहायता लेने से जबर्दस्त शत्रु भाग जाते हैं। इस प्रकार जो काम यों नहीं होता वह बड़े की सहायता प्राप्त होने पर सरलता के साथ हो जाता है।

लोक व्यवहार में अकसर ऐसा होता है। फिर भी पौराणिक उदाहरण देखना हो तो कौरवों और पाण्डवों का उदाहरण देख सकते हैं। जब कौरव-पाण्डव-युद्ध होना निश्चित हो गया और दोनों ही विजय प्राप्त करने की अपनी अपनी शक्ति को टटोलने लगे तो उन्हें प्रतीत हुआ कि हमारी विजय सिर्फ हमारी शक्ति से नहीं होगी। अतएव दोनों ही श्री कृष्णजी की शरण में गये। दोनों ने कृष्णजी को अपने-अपने पक्ष में शामिल करने का विचार किया। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पसन्द किया और दुर्योधन ने उनकी सेना पसन्द की। मगर विजय उसी पक्ष की

हुई जिस पक्ष में अकेले श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण की बलवती सेना भी कौरवों को विजयी न बना सकी और अकेले निःशस्त्र श्रीकृष्ण ने पांडवों को विजयी बना दिया।

अर्जुन ने विशाल और सुशिक्षित यादव सेना न लेकर कृष्ण को ही लेना उचित समझा था। अर्जुन जानते थे कि कृष्ण की विवेकयुक्त बुद्धि के सामने शस्त्र क्या कर सकते हैं? नीति में कहा है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्?

अर्थात्—जिसमें बुद्धि है उसमे बल है। बुद्धिहीन में बल कहाँ?

दुर्योधन के पक्ष में विशाल सेना थी और शस्त्रास्त्र की कमी नहीं थी, मगर उसकी बुद्धि खराब थी। इस कारण उसकी हार हुई। अर्जुन बुद्धिमान् थे इसलिए उन्होंने सेना न लेकर श्री कृष्ण को ही लिया। इसी तरह अगर आपकी बुद्धि अच्छी है और आप विजय चाहते हैं, कर्म रूपी शत्रुओं को भगाना चाहते हैं तो आप भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण लीजिए। लेकिन यह ध्यान रखना कि भगवान् सुबुद्धिनाथ को प्राप्त करने के लिए निर्मल बुद्धि होनी चाहिए। अगर आपकी बुद्धि में विकार हुआ तो भगवान् सुबुद्धिनाथ आपको प्राप्त नहीं होंगे। अपनी बुद्धि को निर्मल बनाकर जब आप सुबुद्धिनाथ प्रभु की शरण ग्रहेंगे तो आपकी आत्मा के शत्रु आप ही भाग जाएंगे। आत्मा के सच्चे शत्रु आत्मा में ही रहते हैं। वे भगवान् की

सहायता के बिना नहीं भाग सकते । इसलिए जैसे अर्जुन के मन में यह निश्चय था कि कृष्ण के बिना मेरी जीत नहीं हो सकती, उसी प्रकार आप भी अपने मन में निश्चित कर लीजिए की भगवान् सुबुद्धिनाथ की सहायता के बिना मैं अपने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता । इस प्रकार की दृढ़ आस्था होने पर ही आप भगवान् की शरण ले सकेंगे । श्रीकृष्ण के पास सेना भी थी और हथियार भी थे । लेकिन भगवान् सुबुद्धिनाथ के पास हथियार नहीं हैं । फिर भी क्या आप उनकी सहायता लेना पसन्द करेंगे ? आपकी समझ में यह बात आजानी चाहिए कि हथियारों में ज़हर भरा हुआ है । हथियार दूसरों का गला काटने के सिवाय और कुछ भी काम नहीं दे सकते । उनसे शत्रुओं की हानि नहीं वृद्धि ही होती है । हानि अगर होती है तो शस्त्र का उपयोग करने वाले की ही होती है । शस्त्रों के द्वारा शत्रुता भी मिटने के बदले बढ़ती ही है । अगर आप इस तथ्य को भली भाँति समझ लेंगे तो शस्त्रहीन भगवान् सुबुद्धिनाथ को उसी प्रकार ग्रहण करेंगे जैसे वीर अर्जुन ने निश्शस्त्र श्रीकृष्ण को ग्रहण किया था । आप विश्वास रखिए, जब आपके हृदय में वीतराग भगवान् विराजमान होंगे तो राग द्वेष आदि विकार उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे । जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार विलीन हो जाता है ।

बाह्य दृष्टि से न देख कर अन्तर्दृष्टि से देखोगे तो पता चलेगा कि आपके आन्तरिक शत्रु वही हैं जिन्हें वीतराग भगवान् ने जीता है। उन्हीं शत्रुओं ने आपके ऊपर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। भक्त जन कहते हैं—

जे तुम जीत्या ते मुझ जीतिया,
पुरुष किश्यो मुझ नाम ......।

अतएव अगर आप वैरिविहीन बनना चाहते हैं तो भगवान् को अपने हृदयमंदिर में विराजमान कीजिए। भगवान् ने उन वैरियों को जीत लिया है, अतएव उनके भीतर प्रवेश करते ही वैरी भाग जाएँगे। इसमें संदेह की आवश्यकता नहीं है। णमोकारमंत्र का पहला पद है—नमो अरिहंताणं।' अर्थात् वैरियों का नाश करने वालों को नमस्कार हो। इस पर आशंका हो सकती है कि जिसने अपने वैरियों का नाश किया है वह वीतराग कैसे कहला सकता है? मगर उन्होंने किसी बाह्य शत्रु को नष्ट नहीं किया है। कर्म-शत्रु का नाश करने के कारण ही वे अरिहंत कहलाते हैं।

कर्म किस प्रकार शत्रु है, यह बात समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है। आम तौर पर कर्म का अर्थ कर्त्तव्य समझा जाता है। कर्त्तव्य चाहे अच्छा हो अथवा बुरा हो, वह यहीं रह जाता है। आत्मा के साथ वह नहीं जाता। ऐसी स्थिति में कर्म परभाव में फल कैसे दे सकता है? इस प्रश्न

का उत्तर यह है कि हिंसा आदि की क्रिया भले ही यहीं रह जाय मगर क्रिया जनित संस्कार आत्मा में बना रहता है और वही संस्कार शुभ-अशुभ फल देता है। इस बात को समझने के लिए वनस्पति को देखिये। शास्त्र में वनस्पति के संबन्ध में बहुत विचार किया गया है और उसे 'दीर्घलोक' नाम दिया गया है। आज के वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि वनस्पति स्वतंत्र शक्ति प्राप्त करके हमें सहायता देने वाली है। वह पृथ्वी, पवन, जल, आदि से बिगड़ी वस्तु लेकर अपनी शक्ति से उसे सुधारती है। फिर उसका फल आप ग्रहण करते हैं। अब अगर आप सुधरी हुई वस्तु लेकर उसे बिगाड़ दें तो वनस्पति की अपेक्षा भी गये-बीते कहलाएँगे या नहीं?

प्रश्न किया जा सकता है कि पृथ्वी, पानी आदि को 'दीर्घ लोक' न कह कर सिर्फ वनस्पति को ही 'दीर्घ लोक' क्यों कहा है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का कहना है कि वनस्पति के आधार पर ही संसार का टिकाव है। इसी कारण वनस्पति को 'दीर्घ लोक' कहते हैं।

पानी बरसने पर जंगल में हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती है। पानी बरसने पर वनस्पति हरी हो जाती है, लेकिन साधु के वचन रूपी जल की वर्षा होने पर भी अगर आपके अन्तःकरण में धर्म की जागृति नहीं हो तो आपको क्या कहा जाय?

अपने यहाँ पन्नवणासूत्र में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत विचार किया गया है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी वनस्पति शास्त्र की रचना की है। वनस्पति के विषय में गाँधीजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि—वनस्पति की शोध में अभी तक बहुत कमी है। इतनी अधिक कमी है कि अगर यह कहा जाय कि अभी तक पृथ्वी ही नहीं जोती गई है तो भी कुछ अनुचित नहीं होगा। अगर वनस्पति की विशिष्ट खोज की जाय तो लोगों को भ्रष्ट दवा खाने की आवश्यकता न पड़े। आयुर्वेद में कहा है कि जो प्राणी जहां उत्पन्न होता है, उसके लिए उसी प्रदेश की दवा उपयोगी होती है। ऐसा होते हुए भी आजकल के लोग भ्रष्ट चीजें खाना पसन्द करते हैं और भारतवर्ष में उत्पन्न होकर भी इंग्लैण्ड का औषध खाते हैं? वह दवा कितनी ही अपावन क्यों न हो, बिना विचार किए उसे निगल जाते हैं या डकार जाते हैं। अगर वनस्पति के सम्बन्ध में अधिक खोज की जाय तो इस देश के निवासियों की प्रकृति के विरुद्ध और अपवित्र दवाइयां खाने का अवसर ही न आवे।

मतलब यह है कि क्रियाजनित संस्कार किस प्रकार आत्मा को शुभाशुभ फल देता है, इस बात की खोज वनस्पति के आधार पर की जा सकती है। इसके लिए वटवृक्ष को देखिये। वटवृक्ष हवा-पानी आदि के संयोग से अपना विस्तार करता है। उसकी डालियों और पत्तों का फैलाव होता है और उनमें फल लगते हैं। वट की इस प्रकट क्रिया के साथ ही साथ

उसमें एक शुभ क्रिया भी होती रहती है। उसी शुभ क्रिया के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि शुभ-अशुभ क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले संस्कार किस प्रकार आत्मा को फल प्रदान करते हैं?

बड़ के फल में छोटे-छोटे बीज होते हैं। उन बीजों में बड़ अपना सरीखा वृक्ष भर देता है। फल या बीज में अगर बड़-वृक्ष को देखने का प्रयत्न किया जाय तो दिखाई नहीं देता मगर बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है कि बीज में सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ है। छोटे से बीज में अगर वृक्ष न छिपा होता तो पृथ्वी, पानी, ताप आदि का अनुकूल संयोग मिलने पर वह कैसे प्रकट हो सकता था? आशय यह है कि वट-वृक्ष के संस्कार जैसे उसके बीज में मौजूद रहते हैं, इसी प्रकार आत्मा के द्वारा की हुई क्रियाओं के संस्कार आत्मा में मौजूद रहते हैं और वे संस्कार क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा को शुभ या अशुभ फल प्रदान करते हैं।

पानी बरसने से पहले, जंगल में जब हरियाली नहीं होती, उस समय अगर हरियाली के बीजों को देखा जाय तो उनमें वैसी विचित्रता नजर नहीं आएगी। मगर पानी बरसने पर जब नाना प्रकार की हरियाली उगती है तो मानना ही पड़ेगा कि बीज भी नाना प्रकार के थे। बीज न होते तो हरियाली कहां से आती? और अगर बीजों में विचित्रता न होती तो हरियाली

में विचित्रता कैसे होती ? बीज के अभाव में हरियाली नहीं होती, पानी चाहे कितना ही बरसे। इस प्रकार कार्य को देख कर कारण का पता लगा लिया जाता है। हरियाली को देख-कर जाना जा सकता है कि यहां बीज मौजूद थे और जैसे बीज थे, पानी आदि का संयोग मिलने पर वैसा ही वृक्ष उगा है।

बस, यही बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। यों तो कर्म के बहुत-से भेद हैं, मगर मध्यम रूप से आठ भेद किये गये हैं। जैनों का कर्मसाहित्य बहुत विशाल है और उसमें कर्म के विषय में बहुत विचार किया गया है। श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि सम्प्रदायों में अनेक छोटी-मोटी बातों में मतभेद है, मगर कर्म के आठ भेदों में तथा उनके कार्य के विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

इन आठ कर्मों में चार अशुभ हैं और चार शुभाशुभ हैं। मगर शास्त्र का कथन है कर्म मात्र का, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ, त्याग करना ही उचित है। ऐसा करने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यों तो आत्मा स्वयं परमात्मा ही है। कर्म के कितने ही आवरण आत्मा पर चढ़े हों, अपने स्वरूप से वह परमात्मा ही है। शुद्ध संग्रहनय के मत से 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है, इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। अपना आत्मा भी परमात्मा

की तरह पवित्र है। आत्मा और परमात्मा मे आज जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आवरण ही है। आवरणों के हट जाने पर आत्मा सुबुद्धिनाथ ही है। इसलिए कहा गया है:—

भ्रम-कल्पना मेटो।

वेदान्त भी 'तत्त्वमसि' कह कर इसी सिद्धान्त का निरूपण करता है। सारांश यह है कि कर्म के कारण आत्मा और परमात्मा मे भिन्नता पड रही है। जब वह भिन्नता हट जाती है तो दोनों मे लेश मात्र भी अन्तर नहीं रहता। उस भिन्नता को हटाने के लिए ही भगवान सुबुद्धिनाथ को हृदय मे बसाने की आवश्यकता है। भगवान् सुबुद्धिनाथ ने कर्मों को नष्ट कर डाला है, अतएव जिसके हृदय मे वे बसेंगे उसमे भी कर्मों का अस्तित्व नहीं रह सकेगा। काम, क्रोध, मोह आदि विकार कर्म के कारण हैं और जिस हृदय में भगवान बसते हैं उसमे इन विकारों की पैठ नहीं हो पाती। अतएव आत्मा निष्कर्म होकर पूर्ण परमात्मा बन जाता है।

मकान, ईंट-चूने का बना होता है, फिर भी आप उसे अपना मानते हैं। लड़की दूसरे की होने पर भी जब उसका सम्बन्ध आपके लड़के के साथ हो जाता है तो उस पर आपकी आत्मीयता नहीं हो जाती? इस प्रकार जब बाहर की चीज पर भी मोह होता है, तब जो कर्म शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, उनके

प्रति मोह होना स्वाभाविक ही है। और उसके प्रति मोह होने के कारण ही आत्मा और परमात्मा में अन्तर पड़ा हुआ है। कर्म की उपाधि न हो तो आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता। इसलिए कहा है—

तू जिस्म जिगर और जहाँ नहीं जानता।
फिर क्यों नहीं कहता खुदा जो तू है दाना।

क्या तू यह जानता है कि मैं जिस्म नहीं हूं, जिगर नहीं हूँ और जहान भी नहीं हूँ? अगर जानता है तो फिर क्यों नहीं कहता कि मैं खुदा हूँ? कदाचित् यह कहा जाय कि ऐसा कहना अहंकार होगा तो यह कहना ठीक नहीं। अहंकार की बात तो तब होगी जब तुम अपने को जिस्म, जिगर और जहान मानोगे। अपने को जिस्म या जिगर समझना अहङ्कार है। जब जिस्म, जिगर और जहान अलग हो जाता है तो शुद्ध आत्मा के सिवाय और बचता ही क्या है? और उस अवस्था में उसे परमात्मा कहना अभिमान की बात कैसे हो सकती है। अभिमान तभी तक रहता है जब तक संसार के प्रति मोह बना रहता है। ज्ञानी पुरुष मोह का नाश करने के लिए कहते हैं कि—

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ?॥
चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खाण मुच्चइ॥

जस्सिं कुले समुप्पण्णे जेहिं वा सवसे नरे।
ममाइ लुप्पइ बाले अएणे अएणेहि मुच्छिये।

इस प्रकार आत्मा मोह-ममता के चक्कर में पड़ा हुआ है, अन्यथा उसे पुत्र आदि से क्या सरोकार है? केवल ममता के कारण ही वह पुत्र को अपना मान रहा है। मित्रो! इस प्रकार के मोह को जीत लो तो तुम्हीं परमात्मा हो। अगर तुमने इस मोह को नहीं जीत पाया है तो परमात्मा नहीं हो। अगर परमात्मा को वन्दन करना है तो बन्धन के स्वरूप को समझो और विचार करो—'अरे आत्मन्! तू कर्म के साथ कब तक बँधा रहेगा? तेरा और परमात्मा का स्वरूप एक ही है। लेकिन मोह के चक्कर में पड़कर तू अपने असली स्वरूप को भूला हुआ है। मगर कब तक भूला रहेगा? अनादि काल से भूल में पड़ा है! अब तो चेत।'

अगर आपसे आज ही गृह का त्याग नहीं हो सकता तो भी माया, ममता और तृष्णा का त्याग करदो। इतना करने से ही आपको बहुत लाभ होगा। उस अवस्था में आपको सन्तोष, शान्ति और समता की अपूर्व सुधा का सुख मिलेगा। परलोक की बात थोड़ी देर के लिए जाने भी दो तो इसी लोक में आप अपने जीवन को सुखमय और संतोषमय बना सकेंगे।

एक आदमी अज्ञानपूर्वक सांप को पकड़ता है और दूसरा ज्ञानपूर्वक। दोनों के पकड़ने में क्या अन्तर है? अज्ञान में

सांप को पकड़ने वाला जब जानता है कि यह सांप है तो डरकर भागता है। मगर जान-बूझकर सांप को पकड़ने वाले के लिए सांप खिलौना रहता है। अतएव आप संसार का स्वरूप समझो और अज्ञान त्यागो। भगवान् सुबुद्धिनाथ को हृदय में धारण करो। ऐसा करने पर संसार आपके लिए खिलौने के समान हो जायगा।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भगवान सुबुद्धिनाथ की शरण लेना ही सुगम और उत्तम साधन है। आप अपना कल्याण चाहते हैं तो सुबुद्धिनाथ की शरण गहो।



अन्तिम विजय

श्री आदीश्वर स्वामी हो प्रणमूं सिर नामी तुम भणी।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है। भारत के सौभाग्य से यहां की प्रजा में परम्परा से ऐसे सत्संस्कार चले आते हैं कि वह परमात्मा के प्रति आस्था रखती है। भले ही विभिन्न सम्प्रदायों में परमात्मा के स्वरूप में किंचित् भेद माना गया हो, फिर भी परमात्मा की प्रार्थना सभी सम्प्रदाय वाले करते हैं। पश्चिमी देशों के प्रभाव से अलबत्ता कुछ नवयुवक परमात्मा या ईश्वर के विरुद्ध बातें कहते हैं और धर्म के बहिष्कार तक की ध्वनि सुनाई देने लगी है, परन्तु मैं मानता हूँ कि भारतवर्ष की जल-वायु में भी परमात्मा का प्रभाव भरा है और इसे नेस्तनाबूद करना किसी के लिए संभव नहीं है। आज भी ऐसे बहुत से भद्रभावी व्यक्ति हैं जो परमात्मा को अपने अन्तःकरण में स्थापित रखते हैं और धर्म को अपने प्राणों की तरह चाहते हैं।

कुछ मार्ग भूले हुए व्यक्तियों की बात छोड़ दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि परमात्मा की प्रार्थना करना सभी को मान्य है। परमात्मा की प्रार्थना करने में किसी सम्प्रदाय का मतभेद नहीं है। परमात्मा के विषय में अभेद-विचार करना भक्तों के अधीन है। अतएव इस विषय में, जिस बात पर

पूर्ण विश्वास हो और जिसके लिए अन्तःकरण साक्षी दे, उस बात को प्रकट करना सब का कर्त्तव्य है।

यहां भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना की गई है। भगवान ऋषभदेव वैदिक परम्परा में अवतार माने गये हैं और जैन परम्परा में तीर्थंकर माने गये हैं। इस तरह शाब्दिक भेद होते हुए भी देखना है कि भगवान् ऋषभदेव को जैन किस दृष्टि से मानते हैं और दूसरे किस दृष्टि से मानते हैं। समस्त आर्यावर्त्त और हिन्दू जाति भगवान ऋषभदेव के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव रखती है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो विदित होगा कि उनमें ऐसे गुण थे और उनका कर्त्तव्य इतना महान था कि वे प्राणीमात्र के लिए मान्य होने ही चाहिए थे और इसी कारण वे मान्य हुए भी हैं। प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ऋषभदेव का आर्यावर्त्त पर कौन-सा ऐसा महान् उपकार है? उन्होंने प्राणीमात्र की किस आवश्यकता की पूर्ति की थी, जिसके कारण वे सभी के मान्य हो सकते हैं? माननीय या इष्ट वही माना जाता है जो आवश्यकता की पूर्ति करता है। जो छोटी आवश्यकता की पूर्ति करता है वह थोड़ा इष्ट होता है और जो बड़ी आवश्यकता पूर्ण करता है वह अधिक इष्ट होता है। जब कोई व्यक्ति अपने आप को किसी कार्य की सिद्धि के लिए असमर्थ समझता है, तब वह दूसरों की सहायता

मांगता है और उस सहायता की न्यूनता एवं अधिकता के अनुसार ही वह सहायता देने वाले का आदर करता है। तो भगवान् ऋषभदेव ने ऐसी कौन सी सहायता की थी जिसके कारण वे प्राणी मात्र के लिए मान्य हो सके ?

आज हमें भगवान् ऋषभदेव दिखाई नहीं देते। उन्हें इस भूतल पर आये युगयुगान्तर बीत गये हैं। उनका जीवन-काल इतना पुराना है कि वहां तक इतिहास भी अभी तक ठीक तरह नहीं पहुंच पाया है। फिर भी प्रामाणिक आगमों में भगवान् ऋषभदेव का विशद वर्णन मिलता है और उनसे भगवान् के कार्यों की महत्ता जानी जा सकती है। जगत् के जीवों का भगवान् ने किस प्रकार उपकार किया है, यह उज्ज्वल कथा आगमों के पृष्ठों पर लिखी पाई जाती है। कारीगर के प्रत्यक्ष दिखाई न देने पर भी उसकी कलाकृति को देख कर उसके कौशल का अनुमान किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार आगमों से भगवान् ऋषभदेव की महिमा समझी जा सकती है। आगमों में कितना गूढ रहस्य भरा है, इस बात का विचार तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है, मगर हमें भी अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करना चाहिए। पक्षी को विमान प्राप्त नहीं है तो वह अपने पंखों की शक्ति के अनुसार ही उड़ता है।

भगवान ऋषभदेव का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जब पृथ्वी धर्महीन थी। धर्म से पृथ्वी का विरह हो गया था।

भगवान् ने उस धर्म विरह को मिटाया था। उन्होंने किस प्रकार धर्म-विरह को पृथ्वी से मिटाया, यह देखना है। भगवान् की जीवनी का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने एकदम धर्म का उपदेश न देकर पहले जनता को धर्म का पात्र बनाया था। बिना पात्र के जब जल भी नहीं ठहर सकता तो धर्म कैसे ठहर सकता है ? बीज बोने से पहले किसान खेत को जोतता है और उसे दुरुस्त करता है। उसके बाद बीज बोता है। ऐसे करने से ही उसका प्रयोजन सिद्ध होता है। खेत को जोते बिना अगर बीज बो दिया जाय तो गांठ का बीज ही चाहे चला जाय पर हासिल कुछ नहीं होता। सुनते हैं सिंहनी का दूध सुवर्ण के पात्र में ही ठहरता है। धर्म के लिए भी इसी प्रकार पात्रता की आवश्यकता होती है। अपात्र में धर्म नहीं ठहर सकता। अतएव भगवान् ने पहले-पहल जनता को धर्म का पात्र बनाने का प्रयत्न किया और अपने सुदीर्घ जीवन के ८३ भाग इसी प्राथमिक कार्य में लगाये। धर्मोपदेश देने में सिर्फ एक भाग व्यतीत किया। जब भगवान् ने देखा कि जनता अब परावलम्बी नहीं रही है, अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए स्वाधीन हो गई है, आत्मनिर्भर बन गई है और इस ओर का दुःख उसका मिट गया है, तब उन्होंने धर्म का उपदेश देना आरंभ किया। जो व्यक्ति रोग और दुःख से घिरा है उसे धर्म नहीं रुच सकता। इसीलिए शास्त्र मे कहा है:—

अह पंचहि ठाणेहिं जेहिं सिक्खा लब्भइ ।
थंभा कोहा पमाएणं रोगेणा लस्सएण वा ॥

इस प्रकार दुःख और रोग से ग्रस्त मनुष्य धर्म के पात्र नहीं बन सकते । अतएव सब से पहले भगवान् ऋषभदेव ने सांसारिक आवश्यकताओं संबन्धी दुःख को मिटाया और उसके पश्चात् धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने विचार किया कि लोग आलसी और परावलम्बी हो रहे हैं । जब तक कोई व्यक्ति अपने जीवन की आवश्यकताओं की ओर से स्वावलम्बी नहीं है, तब तक वह धर्म का पात्र भी नहीं हो सकता । अतएव पहले इन्हें जीवन संबन्धी आवश्यकताओं की ओर से स्वतंत्र बनाना चाहिए । जो अपने लिए भोजन और वस्त्र आदि भी नहीं बना सकता और इस प्रकार अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर सकता, उसे तब तक धर्म का उपदेश नहीं लग सकता । यह सोच कर भगवान् ने जीवन संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का मार्ग बतलाया। इसके लिए उन्होंने मौखिक उपदेश देना ही काफी नहीं समझा, वरन् रचनात्मक कार्य करके सब के सामने आदर्श रक्खा । जीवन की आवश्यकतापूर्त्ति के लिए आदर्श उपस्थित करने के वास्ते भगवान् सब से पहले कृषक बने । उन्होंने अपने हाथों हल चलाया और लोगों को खेती करना सिखलाया ।

आज कुछ नागरिकों की दृष्टि में किसान खराब समझे जाते हैं । लेकिन यदि किसानों को खराब समझा जायगा तो

भगवान् ऋषभदेव को सब से पहले खराब कहना पड़ेगा, क्योंकि वे सब से पहले किसान थे। यदि भगवान् अच्छे हैं तो किसान बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? ऐसी स्थिति में किसानों को हीन दृष्टि से देखना एक बड़ी भूल है। सफेद झक कपड़े पहिनने वाले चाहे जैसा धोखा दें चाहे जैसा विश्वासघात करें, फिर भी वे अच्छे हैं और खेती करने के कारण किसान बुरे हैं, ऐसा मानना घोर पक्षपात है, अत्यन्त कृतघ्नता है और अन्याय है। व्यापार करने की दृष्टि से ही अगर देखा जाय तो भी आप बड़े नहीं हैं। किसान आपसे बड़ा है।

भगवान् ऋषभदेव ने अन्न पैदा करने, उसे पकाने, बनाने, खाने और पचाने की कला स्वयं ही सबको बतलाई थी। उन्होंने बहत्तर पुरुषों की और चौंसठ स्त्रियों की कलाओं की शिक्षा दी थी। इस प्रकार जब स्त्री और पुरुष अपनी अपनी योग्यता के अनुसार स्वावलम्बी बन गये और मर्यादा के अनुसार जीवन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे तब भगवान् ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया।

भगवान् ऋषभदेव से पहले सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं हुई थी। उस समय की जनता सामाजिक संगठन में गुंथी नहीं थी। सब अपने में सीमित थे। भगवान ऋषभदेव ने लोगों को समाज-संगठन के एक सूत्र से बांधा

समाज का निर्माण हुआ। समाज-निर्माण के साथ ही साथ सामाजिक कर्त्तव्यों को जन्म दिया। भगवान् ने जिस व्यक्ति को जिस कार्य के योग्य देखा, उसे वही कार्य सौंपा। वास्तव में योग्यता के अनुकूल कार्य सौंपने से कार्य भी समुचित रूप से सम्पन्न होता है और कार्य करने वाले व्यक्ति का भी विकास होता है। इससे विपरीत जो जिस कार्य के लिए अयोग्य है उसके सिर वह कार्य थोप देने से कार्य की भी हानि होती है और उस व्यक्ति की भी हानि होती है।

इस प्रकार समाज की स्थापना की जा चुकी और सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्माण हो चुका। तभी वर्ण व्यवस्था बनी। विभिन्न वर्ग कर्त्तव्य के आधार पर बनाये गये। वह वर्ग 'वर्ण' कहलाए। याद रखना चाहिए कि वर्णव्यवस्था का एक मात्र आधार सामाजिक कर्त्तव्यों को भली भांति पूरा करना था। उसमें किसी प्रकार की ऊँच-नीच की भावना को अवकाश नहीं था।

इस प्रकार जब जनता जीवन की ओर से स्वावलम्बी बन चुकी तब भगवान् ने आगे का विचार किया। उन्होंने सोचा-यह स्वावलम्ब सच्चा और परिपूर्ण नहीं है। सच्चा स्वावलम्बन तो संसार के सब पदार्थों का त्याग करने में है। अतएव अब मुझे जनता को सच्चा स्वावलम्बन सिखलाना चाहिए यह सिखलाने के लिए आदर्श उपस्थित करना चाहिए। भग-

वान् ने जब यह विचार किया तभी देवगण भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने धर्म की प्रवृत्ति करने की प्रार्थना की। भगवान् ने राजपाट तजकर संयम ग्रहण किया। उन्होंने देखा–जनता जीवन निर्वाह की दृष्टि से तो स्वाधीन होगई, परन्तु इस स्वाधीनता से मोक्ष नहीं हो सकता। मोक्ष की प्राप्ति तो इन सब प्राप्त पदार्थों का त्याग करने पर ही संभव है। और त्याग का आदर्श उपस्थित करने के लिए सर्व प्रथम मुझे ही त्याग को अपनाना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर संसार के कल्याण के लिए भगवान् ने संयम स्वीकार किया। संयम स्वीकार करने से पहले उन्होंने अपने पुत्रों की और राज्य की भी समुचित व्यवस्था कर दी। अपने सबसे बड़े लड़के भरत को उन्होंने अयोध्या का राज्य दिया और दूसरे लड़के बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंपा। इसी प्रकार शेष ९८ पुत्रों को भिन्न-भिन्न प्रदेशों का राज्य सौंप दिया। सबको राजनीति सिखला दी और राज्य व्यवस्था का उद्देश्य भी बता दिया। भगवान् ने कहा कि राज्य स्वीकार करना प्रजा की विशिष्ट सेवा स्वीकार करना है। भोगविलास के लिए राजा नहीं होता। प्रजा की रक्षा के लिए राजा होता है। यह सब करने के पश्चात् भगवान् ने संयम लिया।

भगवान् के सबसे बड़े पुत्र भरत के यहां चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। भरत समस्त भारतवर्ष को एक ही शासन के

अन्तर्गत करना चाहते थे। अतएव उन्होंने अन्यान्य राजाओं पर अपना शासन स्थापित कर लिया। उनका विचार अपने भाइयों पर शासन चलाने का नहीं था। किन्तु अपने प्रधान के कहने से और आयुधशाला में चक्ररत्न के न घुसने से भरत को विवश होकर अपने भाइयों पर भी शासन करने का विचार करना पड़ा। तदनुसार भरत ने पहले अपने ६८ भाइयों के पास शासन स्वीकार करने के लिए संदेश भेजा। संदेशा पाकर वे लोग सोचने लगे कि इस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए? भरत का शासन स्वीकार करना उचित है या युद्ध करना उचित है? जब विचार करके भी वे किसी अंतिम निर्णय पर न पहुंच पाये तो भगवान् से सलाह लेने का उन्होंने निर्णय किया। उन्होंने सोचा-अगर भगवान् युद्ध करने की सलाह दें तो युद्ध करना चाहिए। इस अवस्था में अपनी हार कदापि नहीं हो सकती। अगर भगवान् कहें कि भरत तुम्हारा बड़ा भाई है और समग्र देश को एक सूत्र में बांधने के लिए ही वह तुम्हारे ऊपर शासन चलाना चाहता है तो हमें भरत के शासन को स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार सोचकर ६८ भाई मिलकर भगवान् के पास पहुंचे। उस समय भगवान् ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिया था, उसका वर्णन सूयगडांगसूत्र में भी है और भागवत-पुराण के रचयिता ने भी उसका मार्मिक वर्णन किया है। इस

समय इस उपदेश के संबंध में ही कुछ कहना चाहता हूँ, क्योंकि यह क्षत्रियोचित उपदेश है। क्षत्रियों के सामने क्षत्रियोचित उपदेश देना ही उचित है। आप लोग आज ढीली धोती वाले बनिया बन रहे हैं, मगर आपके पूर्वज बनिया नहीं क्षत्रिय थे और वही खून आपकी नसों में दौड़ रहा है। हम चाहते हैं कि आप अपनी असलियत को पहचानें और उसी क्षात्र तेज को फिर अपनावें, जो तेज आपके वीर पूर्वजों में चमकता था।

भगवान् ऋषभदेव क्षत्रिय थे और उनके पुत्र भी क्षत्रिय थे। भगवान् अपने ९८ पुत्रों को भरत की अधीनता स्वीकार करने की सलाह दे सकते थे। मगर क्षत्रिय लोग अधीनता कब स्वीकार करते है! वे स्वतंत्रता के सामने अपने प्राणों को भी तुच्छ समझते हैं। लेकिन उस स्वतंत्रता का असली स्वरूप क्या है? वह कैसी होती है? यह बात भगवान् ऋषभदेव के उपदेश से ही जानी जा सकती है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा यदि मैंने तुम्हें पूर्ण स्वाधीन राज्य दिया होता तो भरत तुम्हारे ऊपर कदापि शासन नहीं चला सकता था। मगर तुम्हें जो राज्य मिला है वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। उसमें एकदेशीय स्वतंत्रता है। इसी कारण भरत तुम्हारे ऊपर शासन करना चाहता है। तुम लोग मुझसे सलाह लेने आये, यह अच्छा

ही हुआ । मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ कि तुम ऐसा स्वतंत्र राज्य प्राप्त करो कि जिस पर कोई भी दूसरा शासन न चला सके ।

संबुज्झह किं न बुज्झह, सम्बोही खलु पेच्च दुल्लहा !
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥
—सूयगडांगसूत्र

अर्थात्-हे पुत्रो ! समझो । बोध पाओ । बोधि बहुत दुर्लभ है । जो समय व्यतीत हो जाता है वह फिर लौटकर नहीं आता । मनुष्य-जीवन बार-बार सुलभ नहीं है !

नायं देहो देहभाजां नृलोके,
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजांये ।
तपो दिव्यं पुत्र कायेन सत्त्वं,
शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ।
—भागवत ।

हमें इन दोनों जगह के उपदेशों की मौलिक एकता पर विचार करना चाहिए । अगर कोई समझता है कि भगवान् ऋषभदेव जैनों के ही भगवान् हैं तो उसका ऐसा समझना भूल है । महापुरुष किसी विशिष्ट वर्ग, जाति या समूह के नहीं होते । महापुरुषों के समक्ष सभी ने अपना मस्तक झुकाया है । चाहे राम हों या ऋषभदेव हों, ये सभी के लिए मान्य हैं । फिर भी धर्म भावना की कमी और साम्प्रदायिकता की भावना

में वृद्धि होने से लोग आपस में लड़ते-झगडते हैं। जब तक मनुष्य पूर्ण धर्म नहीं जानता और धर्म के नाम से अधर्म को पकड़े रहता है, तब तक क्लेश और कलह होना स्वाभाविक है। जब किसी महापुरुष की शरण में जाने पर धर्म की प्राप्ति होती है, तब सब प्रकार के क्लेश और कलह का अन्त हो जाता है।

भागवत के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने अपने लड़कों से कहा—'यह शरीर भोग के लिए नहीं है।' इस कथन को सुन कर कोई यह कह सकता है कि आप त्यागियों को त्याग पसंद है, इसी कारण आप भगवान् के इस कथन को ठीक कहते हैं। मगर भोगों को अगर हम ही न भोगेंगे तो फिर कौन भोगेगा ? और फिर बेचारे भोगों की क्या दशा होगी ? ऐसा कहने वाले लोग मानों भोगों पर दया करते हैं और उनकी रक्षा के लिए ही भोग भोगते हैं। लेकिन भगवान् कहते हैं—यह देह कष्टदायी भोग भोगने के लिए नहीं है।

देखना चाहिए कि उक्त दोनों प्रकार के कथनों में से कौनसा कथन ठीक है ? ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी सिंह मनुष्य को खा जाता है। अगर सिंह को व्यक्त भाषा प्राप्त हो और वह कहने लगे कि मनुष्य मेरे खाने के लिए ही बने हैं तो क्या आप उसका कहना स्वीकार करेंगे ? और यदि सिंह ने मनुष्यों को खाना छोड़ दिया तो क्या मनुष्य निरर्थक-

निरुपयोगी हो जाएंगे ? अगर सिंहों की एक सभा हो और सर्व सम्मति से यह बात स्वीकृत हो जाय कि मनुष्य का मांस मीठा होता है, सुस्वादु होता है, अतएव निश्चित किया जाता कि सिंह मनुष्यों को ही खाया करें और मानें कि मनुष्य विधाता ने सिंहों के भोजन के लिए बनाए हैं। तो इस निर्णय को आप स्वीकार कर लेंगे ? आप इसे स्वीकार नहीं करेंगे और इसे क्रूरता कहेंगे। मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है। ईश्वरत्व का प्रतिनिधि है। धर्म और कायदा कानून में भी उसका दर्जा ऊंचा है। तथा पशुओं को मारने पर जितना दंड नहीं दिया जाता, उतना मनुष्य की हत्या करने पर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में सिंहों का यह सर्वसम्मत निर्णय भी सही कैसे हो सकता है कि मनुष्य, सिंहों की खुराक के लिए बनाये गए हैं।

इस प्रकार का तर्क उपस्थित करके आप सिंहों के प्रस्ताव को अनुचित बतला सकते हैं। किन्तु ऐसी ही युक्तियों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह मनुष्य शरीर भोग के लिए नहीं है।

फिर प्रश्न किया जा सकता है-अगर मानव शरीर भोग भोगने के लिए नहीं है तो फिर किसलिए है ? इस शरीर की सार्थकता किसमें है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार में एक चीज दूसरे के काम में तो आती है, परन्तु इसी

कारण यह मान लेना कि हमारे लिए ही बनी है, भूल है। ऐसा मानने से बड़ी गड़बड़ी होगी। इसके अतिरिक्त यह बात किसी युक्ति या तर्क से सिद्ध भी नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, कोई कहता है कि अन्न मनुष्य के खाने के लिए ही बना है। अब उससे पूछना चाहिए कि अगर तुम्हारा कहना एकान्ततः सत्य है तो अन्न के होते हुए भी संसार में लाखों मनुष्य भूखे क्यों मरते हैं इसी प्रकार अगर कपड़ा मनुष्यों के लिए बना है तो मनुष्य नंगे क्यों रहते हैं? यह चीजें मनुष्यों के लिए ही बनी हैं, इस कथन में अगर एकान्त रूप से सचाई है तो वे मनुष्यों के पास दौड़ कर क्यों नहीं पहुंच जातीं? मनुष्य अगर उनका उपयोग नहीं करेगा तो वे निरर्थक हो जानी चाहिए ऐसी दशा में उन चीजों को चाहिए कि वे अपने को सार्थक बनाने के लिए मनुष्य के पास भागी आवें और जब तक कोई मनुष्य उन्हें न भोग ले तब तक नष्ट न हों। लेकिन ऐसा नहीं देखा जाता। अतएव यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त मान्यता भूलभरी है। इस भ्रमपूर्ण मान्यता को हटाने के लिए ही यह उपदेश दिया गया है कि—हे मनुष्य! तु धर्म का विचार करके काम कर। तू ने जो यह मान लिया है कि संसार की वस्तुएं मेरे ही भोग के लिए बनी हैं, यह तेरी भूल है। इसी से तू दुखी हो रहा है।

वास्तव में देखा जाय तो संसार की वस्तुओं को अपने भोग के लिए मान कर उनके अधीन हो जाने में सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख स्वतंत्रता में है। यह बात दृष्टि में रख कर ही भगवान् ने कहा है-हे पुत्रो ! यह शरीर भोग के लिए नहीं है। अगर कहा जाय कि शरीर भोग के लिए ही है तो इसका उत्तर यह है कि भोग तो विष्टा खाने वाले शूकर भी भोग सकते हैं। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य शरीर भोग के लिए ही है ? यह बात दूसरी है कि किसी की रुचि भोगों में अधिक हो और वह भोग भोगने में ही शरीर की सार्थकता समझ ले, पर संसार में कुछ लोग ऐसे भी तो मिलते हैं जो भोगों को भुजंगम के समान मान कर उनसे विमुख हो जाते हैं। भोगों की ओर उनकी रुचि नहीं जाती। अतएव सिर्फ रुचि के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि मानव शरीर भोग के निमित्त है। फिर भी यदि ऐसा मान लिया जाय तो रुचि की भिन्नता के कारण प्रत्येक चीज भिन्न-भिन्न कामों के लिए मानी जायगी। उदाहरण के लिए विष्टा को ही देखो। विष्टा को सुअर जिस दृष्टि से देखता है, क्या मनुष्य उसे उसी दृष्टि से देखता है ? नहीं। इस प्रकार रुचि की भिन्नता के कारण पदार्थ के विषय में दृष्टिभेद रहता है या नहीं ? एक सुन्दरी को उसका लड़का किस दृष्टि से देखता है ? पति किस दृष्टि से देखता है ? कामी पुरुष किस दृष्टि से देखता है ? और योगी किस

दृष्टि से देखता है ? लड़का उसे अपनी जननी के रूप में देखता है। पति पत्नी के रूप मे देखता है। कामी अपनी कामना की पूर्ति का साधन समझता है और योगी उसे अपने योग में सहायिका मानता है। अब देखना चाहिए कि वह सुन्दरी वास्तव में है किस के लिए ? वास्तव मे तो वह अपना शुभ-अशुभ परिपाक भोगने के लिए है। मगर लोग दृष्टिभेद के कारण उसे अपने-अपने लिए मानते है।

जिन चीजों को आप अपने लिए मानते हैं, उन्हीं को पशु अपने लिए मानते है। आप जिन पदार्थों का उपभोग करते हैं, वे अगर पशुओं को मिलें तो क्या पशु उनका उपयोग नहीं करेंगे ? बल्कि पशु पक्षी और कीटाणु जिन वस्तुओं को भोगते है, स्वतंत्र रूप से भोगते है। आप उनकी तरह स्वतंत्र रूप से नहीं भोग सकते। इसके लिए शहद की मक्खियों का ही उदाहरण ले लीजिए। वैज्ञानिकों के कथनानुसार वे कैसा छत्ता बनाती है, उसमे किस प्रकार न्यून से न्यून मोम लगाती हैं, किस प्रकार शहद भरती है एवं किस प्रकार सफाई रखती हैं, किस प्रकार वस्तु का संग्रह रखती है और किस प्रकार पानी आदि लाती है ? इत्यादि बातें जानने योग्य है। वे सब काम व्यवस्थापूर्वक करती हैं और स्वतंत्र रूप से वस्तु का उपयोग करती हैं। लेकिन क्या इसी कारण वे मक्खियां मनुष्य बन जाती हैं ? मनुष्यों से अधिक स्वतंत्र होने पर भी मक्खियां मनुष्य नहीं हैं। फिर भी आप उनका जूठा शहद

खाकर क्यों अभिमान करते हैं? मक्खियों की जूठन खाने वाला मनुष्य अगर अभिमान करता है तो क्या इससे उसकी पराधीनता और नीचता ही नहीं सूचित होती ?

सारांश यह है कि भगवान् ने अपने पुत्रों से कहा कि यह मनुष्य शरीर भोग के लिए नहीं है, किन्तु दिव्य काम करने के लिए है। वह दिव्य काम क्या हैं, जिनके लिए यह शरीर है? इसके उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य शरीर दिव्य तप करने के लिए है। दिव्य तप करने के कारण ही मनुष्य का शरीर सर्वोत्तम शरीर माना जाता है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को इस प्रकार का उपदेश दिया। ऐसा उपदेश देने के कारण ही भगवान् ऋषभदेव माननीय और पूजनीय हुए। उन्होंने जैसा उपदेश सारे संसार को दिया वैसा ही अपने पुत्रों को दिया। भगवान् के लिए उनके पुत्र और संसार के दूसरे जीव समान ही थे। इसी कारण भगवान् का वह उपदेश, जो उन्होंने अपने पुत्रों को दिया था, शास्त्र में लिया गया है। भगवान के इस उपदेश को अपने सामने रखकर आप विचार कीजिए कि आपका यह शरीर किसलिए है? इसे भोग भोगने में नष्ट करना है या तप करके सफल बनाना है?

इस संसार में मनुष्यों की दो श्रेणियां की जा सकती हैं। पहली श्रेणी में वे हैं जो अपना जन्म भोग के लिए ही मान

रहे हैं और दूसरी श्रेणी उनकी है जो जीवन का उद्देश्य तप समझते हैं। इन दोनों श्रेणियों के लोग पहले भी थे और आज भी हैं। इन दोनों में कितना अन्तर है और अन्त में किसके लिए क्या परिणाम निकलता है, यह बात एक कथा द्वारा बतला देना उचित होगा।

अयोध्या में अवध-नरेश राज्य करते थे और काशी में काशी-नरेश राज्य करते थे। अवध-नरेश सोचते थे कि हम प्रजा की रक्षा एवं सेवा करने के लिए राज्य करते हैं और हमारा यह शरीर दिव्य तप करने के लिए है। दूसरी ओर काशीनरेश का यह विचार था कि हम उच्च श्रेणी के भोग भोगने के लिए राजा हुए हैं। इसलिए सब अच्छे अच्छे रत्न हमारे पास ही होने चाहिए। इस प्रकार दोनों राजा दो प्रकार की श्रद्धा के थे। यह तो नियम ही है कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही बन जाता है। कहा भी है—

श्रद्धामयो ऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात—मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही हो जाता है। जिसकी श्रद्धा जैसी होती है, वैसा ही वह बन जाता है।

इस उक्ति के अनुसार दोनों राजाओं की प्रकृति उनकी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बन गई थी। अवधनरेश ने अपना जीवन प्रजा की सेवा में ही लगा दिया था। इस कारण उनके राज्य में तो उनका जय जयकार होता ही था किन्तु

अन्य अन्य राज्यों में भी वे आदर्श और कर्त्तव्यनिष्ठ राजा माने जाते थे। वे जनता मे प्रातः स्मरणीय पुरुष बन गये थे। उधर काशीनेरश अपनी भावना पूर्ण करने के लिए प्रजा को प्रत्येक शक्य उपाय से चूसता था। उसकी प्रकृति इतनी स्वार्थमयी बन गई थी कि वह अपने सिवाय अपने आत्मीय जनों को भी अपने ही सुख की सामग्री समझता था। इस कारण उसका भृत्यवर्ग, यहां तक कि उसकी रानी भी उससे असंतुष्ट रहती थी। सब लोग यही सोचते थे कि-इस राजा का सुधार कैसे हो? कौन इसे ठीक रास्ते पर लावे? हे प्रभो! अगर राजा का सुधार न हुआ तो देश में हाहाकार मच जायगा।

एक वार अवध राज का जन्मदिन आया। काशी के लोगों को भी पता चला कि आज अवध के महाराज का जन्म-दिवस है। यह जानकर काशीवासी प्रजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। सबका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। वहां के लोगों ने उत्साह के साथ उनका जन्मदिन मनाने का निश्चय किया। स्थान-स्थान पर दीपमालिकाएँ लगाकर, स्त्री-पुरुष एकत्रित होकर आनन्द मनाने लगे। सर्वत्र अवधेश की जयजयकार होने लगी। प्रजा अवध के महाराज के जन्म दिन के उपलक्ष्य में हर्ष विभोर होकर आनन्द मना रही थी कि काशी नरेश भी अपने प्रधान के साथ इसी समय उस ओर से निकले। लोगों को उत्सव मनाते देखकर प्रधान से राजा ने

पूछा—आज यह उत्साह और उमंग किसलिए है ? क्या किसी उत्सव का दिन है ? प्रजा में बड़ी चहल पहल नजर आती है ? मुझे तो पता ही नहीं कि आज कोई उत्सव दिवस है !

प्रधान—महाराज, आज अवध के महाराज का जन्म-दिन है । प्रजा इसी उपलक्ष्य में आनन्द मना रही है ।

प्रधान की बात सुनते ही काशीनरेश की त्यौरियाँ चढ़ गईं क्रुद्ध स्वर में वह कहने लगा—मेरे राज्य में अवधराज का जन्म-दिवस मनाया जाता है ! प्रधान, तुम क्या व्यवस्था करते हो ?

प्रधान—महाराज, पृथ्वी के राज्य की सीमा होती है, प्रेम के राज्य की सीमा नहीं होती । ऐसी स्थिति में प्रजा को अवधेश का जन्मदिवस मनाने से किस प्रकार रोका जा सकता है ? अगर मेरी बात पर आपको भरोसा न हो तो परीक्षा करके देख लीजिये । आप स्वयं प्रजा को रोककर देखिए । आपको विदित हो जायगा कि आपकी प्रजा अवधेश से कितना प्रेम करती है ?

प्रधान की बात सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ । मगर प्रजा से कोई बात पूछने का साहस उसे नहीं हुआ । उसने सोचा—इस समय लोग हर्ष में विभोर हैं । छेड़ छाड़ करना उचित नहीं होगा ।

राजा किंचित् आश्चर्य और चिन्ता के साथ महल की ओर लौट गया । उसके हृदय में यह बात कांटे की तरह चुभ रही

थी कि मेरे राज्य में अवध-नरेश का जन्मदिवस मनाया जाता है ! इस विचार ने उसके अन्तःकरण में ईर्षा की आग धधका दी । अपनी सुलगाई आग में वह आप ही ईंधन बनने लगा। उसे रात में नींद नहीं आई । इधर-उधर करवट बदलने लगा । रानी से उसकी मानसिक व्यग्रता छिपी नहीं रही । रानी ने पास जाकर और राजा के शरीर पर अपना कोमल हाथ फेरकर पूछा—'स्वामिन ! आज क्या कारण है कि आपको नींद नहीं आ रही है ? आप इधर से उधर करवटें बदल रहे हैं और अशान्त मालूम होते हैं ।

राजा अभिमान के नशे में था और यथार्थ बात कहने से उसके अभिमान को ठेस लगती थी । अतएव उसने रानी से कहा—'तुम स्त्री हो । तुम्हें कोई बात बतला भी दी जाय तो उससे क्या लाभ होगा ?'

रानी—यदि मुझ से कहने से कुछ नहीं हो सकता तो इस प्रकार करवटें बदलने से भी कुछ नहीं हो सकता आप मुझे अपने सुख-दुःख की बात सुनने योग्य समझते हैं तो कहिए ।

राजा ने कुछ नरम पड़कर कहा—मैंने ऐसा कह कर गलती की है । तुम ही मेरे हृदय की बात सुनने योग्य न होओगी तो कौन होगा ? बात यह है कि आज अपने राज्य में अवध के राजा का जन्मदिन मनाया गया है । प्रजा ने

उत्साहपूर्वक उत्सव किया है। मेरे राज्य में किसी दूसरे राजा का जन्मदिन मनाया जाना मेरे लिए असह्य है। इसी कारण मैं चिन्तित हूँ।

रानी—वास्तव में यह बात चिन्ता के ही योग्य है। लेकिन चिन्ता करना किसी भी बीमारी का इलाज नहीं है। चिन्ता से दुःख घटता नहीं, बढ़ ही जाता है। जब हमारे सामने कोई चिन्ताजनक घटना हो तो चित्त को स्वस्थ रखकर उसके कारणों पर विचार करना चाहिए। अगर कारण समझ में आ गये तो उस घटना का प्रतीकार करना सहज हो जाता है। चिन्ता तो स्थिति को अधिक खराब कर देती है।

राजा—समझ में नहीं आता कि अवध के राजा ने हमारी प्रजा पर क्या जादू फेर दिया है?

रानी—नाथ, मेरे समझ तो यह है कि हमारे हृदय की मधुरता और वाणी की मिठास ही सब से बड़े जादू हैं। जिसमें यह दो बातें होती हैं वह अनायास ही दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इसके बाद भलाई करने का नम्बर आता है। उस आकर्षण को स्थायी और प्रबल बनाने के लिए दूसरों की भलाई के काम करना आवश्यक है। अवध का राजा क्या काम करता है जिससे अपनी प्रजा उसका-जन्मदिन मनाती है? आप इस बात पर विचार कीजिए और वही काम आप भी करना आरंभ कर दीजिए।

राजा—इससे क्या होगा ?

रानी—इससे यह होगा कि आपकी प्रजा अवध के राजा को भूल जायगी और आपका आदर करेगी। इतना ही नहीं, वरन् अवध की प्रजा भी आपका जन्मदिवस मनाने लगेगी।

रानी ने बावन तोले पाव रत्ती बात कही थी। मगर राजा को यह सलाह पसंद नहीं आई। उसने कहा—आखिर तो तुम स्त्री ही ठहरीं न ! तुमने स्त्रियों के योग्य ही बात कही है। तुम नहीं समझतीं कि मैं अवधनरेश की तरह कायर नहीं हूं और प्रजा का गुलाम बन कर नहीं रह सकता। वह खाना-पीना भूलकर और ऐश-आराम भूल कर प्रजा के पीछे ऐसा लगा रहता है, जैसे उसका नौकर हो और उसी का अन्न खाता हो। मुझ से यह नहीं बन सकता। कदाचित् मैं ऐसा ही करूं तो भी यहां अवधराज का जन्मदिन मनाया जाना कैसे रुक सकता है ? मैं तो कोई और ही उपाय सोचूंगा।

राजा का यह कथन सुनकर बेचारी रानी चुप हो गई। उधर राजा ने सेनापति को बुलवाया और सेना तैयार करने का आदेश देते हुए कहा—किसी को खबर न होने पावे। सेना का संचालन मैं स्वयं ही करूंगा और अयोध्या पर अपना झंडा फहराऊंगा।

जैसे अंगरेज सरकार दमन करके कांग्रेस की कीर्त्ति और शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करती थी, उसी प्रकार काशी-राज दमन का सहारा लेकर अवधनरेश की प्रतिष्ठा नष्ट करना चाहता है !

सेनापति ने सेना तैयार की और काशीनरेश के नेतृत्व में, रात्रि के समय उसने अयोध्या पर हमला कर देने का विचार किया। काशीनरेश की सेना अवध की सीमा पर पहुची। अवध के सीमा रक्षकों ने राजा को समाचार दिया कि काशीनरेश सेना लेकर चढ़ आये हैं। अवधनरेश यह समाचार पाकर सोचने लगे—काशीनरेश के साथ मेरी कोई अनबन नहीं है। इस समय कोई ऐसा कारण भी उपस्थित नहीं हुआ कि उन्हें मेरे राज्य पर चढ़ाई करने का अवसर मिले। फिर उनके चढ़ाई करने का क्या कारण है ?

मंत्री ने अवधराज से कहा—महाराज, मैं तो पहले ही कहता था कि सीमाओं पर पर्याप्त सेना रखनी चाहिए। सेना के बिना राज्य की रक्षा नहीं होती। मगर आपने मेरी बात अनसुनी करदी। उसका परिणाम आज दिखाई दे रहा है।

अवधनरेश—यह तो ठीक है, मगर काशीराज ने चढ़ाई क्यों की है ? हमारी ओर से तो कोई ऐसा कारण नहीं हुआ कि उन्हें चढ़ाई करनी पड़ती !

मंत्री—चढ़ाई का कोई खास कारण नहीं हुआ करता। जो महत्त्वाकांक्षी और बलवान् होता है वह निष्कारण ही दूसरे राज्य पर हमला करके अपने राज्य का विस्तार कर लेता है। अब अगर आपकी आज्ञा हो तो जो सेना तैयार है, उसी को लेकर काशीनरेश का सामना करने की योजना करूं।

अवधराज—नहीं, ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। काशीनरेश की सेना के प्रवाह में अपने थोड़े-से लोगों को बहा देना अनुचित है। एक बार मैं स्वयमेव काशीनरेश से मिलकर बातें करना चाहता हूं इस वार्त्तालाप का परिणाम देख लेने के पश्चात् जो उचित होगा, किया जायगा।

अवधनरेश घोड़े पर सवार होकर अकेले ही काशीनरेश से मिलने के लिए रवाना हुए। लोग कहने लगे—अकेले शत्रु की सेना में जाना उचित नहीं है। मंत्री ने भी समझाया महाराज! ऐसा करना राजनीति से विरुद्ध है। मगर अवध नरेश का हृदय काच की तरह स्वच्छ था। उसमें किसी प्रकार का कपट या अन्य विकार नहीं था। अतएव उन्होंने कहा—इस राजनीति से हमें अपना पिंड छुड़ाना है। मैं तो एक नवीन राजनीति की नींव डालना चाहता हूं।

अवधनरेश अकेले घोड़े पर सवार होकर काशीराज की छावनी में पहुंचे। जब काशीराज को उनके आने की सूचना

मिली तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—'अवधनरेश भयभीत होकर मेरे सामने आया है ! देखा मेरा तेज और सामर्थ्य !' यह कह कर उसने अवधनरेश को ले आने की स्वीकृति दी।

अवधनरेश ने जाकर काशीराज से कहा-आपने इस प्रकार निष्कारण ही चढ़ाई करने का कष्ट क्यों किया ? कृपया बतलाइए कि मेरे राज्य में प्रजा को कुछ कष्ट है ? मेरी प्रजा की आपके पास कोई शिकायत पहुंची है ? अथवा कोई अन्य कारण है ?

काशीराज के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था वास्तव में चढ़ाई का कोई समुचित कारण नहीं था। अतएव उसने कहा—तुम कायर हो जो इस प्रकार का प्रश्न करने आये हो ! मैं ऐसे प्रश्नों का यहां कोई उत्तर नहीं देना चाहता। मुझे जो उत्तर देना है, रणभूमि में ही दूंगा और मुख से नहीं, तलवार से दूंगा। अगर तुम में बल है तो तलवार से सामना करो। नहीं है तो जंगल में भाग जाओ।

अवधेश—मुझ में बल तो है पर मैं अपने बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहता। उचित तो यह था कि आप अपने राज्य की रक्षा आप करते और अपने राज्य की रक्षा मैं करता। मगर आप मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं देना चाहते। इससे जान

पड़ता है कि आप अवध का भी राज्य चाहते हैं। इसी कारण आप बार-बार तलवार की बात कहते हैं। लेकिन मैं अपनी प्रजा का रक्त नहीं बहाना चाहता। युद्ध का अवसर आवे, यह मुझे अभीष्ट नहीं है। आपको राज्य चाहिए तो खुशी से लीजिए। सिर्फ इस बात का ध्यान रखिए कि जिस प्रकार मैंने प्रजा का पालन किया है उसी प्रकार आप करें और प्रजा को कष्ट न होने दें। राज्य प्रजा की सुख-शान्ति के लिए है। राज्य पाकर राजा को अपनी प्रजा के प्रति एक पवित्र कर्त्तव्य पालना पड़ता है। जब आप मेरा कर्त्तव्य अपने माथे ले रहे हैं तो मेरा बोझ हल्का हो रहा है। इसके लिए युद्ध क्यों किया जाय ? प्रजा का रक्त क्यों बहाया जाय ?

अवधनरेश इतना कह कर और थोड़ी देर उत्तर की प्रतीक्षा करके, उत्तर न मिलनेपर रवाना होने लगे। चलते चलते उन्होंने फिर दुहराया-ठीक है, मैं जाता हूँ। प्रजा का ध्यान रखिएगा।

इतना कहकर अवधनरेश जंगल की ओर चल दिये। काशीराज यह देखकर प्रसन्न हुआ और सोचने लगा-मैं कितना बहादुर हूं ! मेरे भय से अवध का राजा जंगल में भाग गया। वह मेरा सामना नहीं कर सका। युद्ध किये बिना ही मेरी जीत हो गई।

काशीराज ने अयोध्या पहुंचकर अपना झंडा फहरा दिया। अपने कर्मचारियों को वहां शासन सँभलाकर वह काशी लौट

आया। उसे आशा थी कि काशी की प्रजा इस विजय के उपलक्ष्य में मेरा स्वागत करेगी और अवध के राजा को भूल जायगी। प्रजा अवधराज की कायरता देखकर अवश्य ही उससे घृणा करेगी। और मेरे प्रताप और पराक्रम की सराहना करेगी। मगर काशी पहुंचने पर उसकी आशा पर पानी फिर गया। काशी की प्रजा को जब पता चला कि हमारे महाराज ने अवध पर आक्रमण किया था और अवध के राजा अपना राज्य इन्हें देकर जंगल में चले गये हैं, तो घृणा और तिरस्कार की भावना प्रजा के हृदय में उत्पन्न हो गई। जगह-जगह आलोचना होने लगी। किसी ने कहा—काशीराज अपने राज्य मे तो सुधार कर ही नहीं सकते और न्यायनीति के साथ राज्य करने वाले अवधराज पर चढ़ाई करके उन्होंने उसका राज्य छीन लिया। दूसरा कहने लगा—अवधराज का अपराध क्या था? प्रजा से प्रेम करना ही उनका एक मात्र अपराध था और इसी अपराध का उन्हें दंड दिया गया है। इस प्रकार काशी की समस्त प्रजा अपने राजा से असन्तुष्ट और रुष्ट हो गई। राजा के आने पर प्रजा ने काले झंडे दिखला कर अपना असन्तोष प्रकट किया।

प्रजा का असन्तोष देखकर काशीराज चकित हो गया। उसने विचार किया मेरी विजय का परिणाम उल्टा ही निकला इस प्रकार सोचते-विचारते वह अपने महल में पहुंचा। उसे आशा थी कि मेरी विजय से प्रसन्न होकर रानी मुसकराती

हुई मेरे स्वागत के लिए आगे बढ़ कर आएगी मगर उसने जो कुछ देखा, उससे उसकी निराशा और विषाद की सीमा न रही। उसने देखा—रानी काले कपड़े पहने बैठी है। यह देख-कर राजा ने कहा—मेरे जीवित रहते काले कपड़े क्यों पहिने हैं ?

रानी ने तमक कर कहा— आपका जीवित रहना और न रहना एक समान हो गया है। बल्कि मेरी समझ में अपयश-मय जीवन की अपेक्षा यशोमय मृत्यु अधिक श्रेयस्कर होती है। आप अपनी प्रजा को तो सुख दे नहीं सके और अवध की प्रजा से सुख देने वाला राजा आपने छीन लिया ! अवध की प्रजा का सुख नष्ट करके और उसे दुखी करके आपने क्या पा लिया ? आज कोई भी समझदार व्यक्ति आपके इस कार्य की सराहना नहीं करता। सभी लोग एक स्वर से इस अन्याय अत्याचार की निन्दा कर रहे हैं।

रानी की बात सुनकर राजा को सद्‌बुद्धि आनी चाहिये थी मगर उसे सद्‌बुद्धि नहीं आई। वह उल्टा यह सोचने लगा—मैंने भूल की कि अवधनरेश को जीवित जाने दिया। यह बहुत बुरा हुआ। वह जीवित है, यह जानकर ही प्रजा का रुख उसकी ओर है, क्योंकि अभी लोगों को उसकी तरफ से आशा है। ऐसी स्थिति में उसे मरवा डालना ही उचित

निश्चय करके उसने घोषणा कर दी कि जो कोई अवधेश का मस्तक काट कर लाएगा, उसे सवा मन सोना दिया जायगा।

राजा की यह घोषणा सुनकर प्रजा दंग रह गई। राजा की और अधिक निन्दा होने लगी। उधर अवधनरेश तप करता हुआ जगल में घूमा करता था। वह अपनी स्थिति के प्रति असंतुष्ट नहीं था। राज्य त्यागने का उसे दुःख नहीं था। बल्कि वह सोचा करता था—परमात्मा की कृपा से मुझे अच्छा अवसर मिल गया। यों आत्मकल्याण के लिए मैं नहीं निकल पाता, लेकिन काशीनरेश ने मेरा भार अपने सिर पर ले लिया। मुझे उन्होंने हल्का कर दिया और आत्म-कल्याण करने का अवसर दिया। मैं उनका भी अनुग्रह मानता हूँ।

जंगल मे घूमते हुए अवधनरेश को एक बनियां मिला। उसका जहाज पानी में डूब गया था। वह सोचता था–यह तो गनीमत हुई कि मैं जीवित बच गया। मगर मेरे सिर पर कई लोगों का कर्ज चढ़ा है। मेरा विश्वास करके कई लोगों ने मुझे पूंजी दी थी। अब उनकी पूंजी अगर उनके पास नहीं पहुचती तो विश्वासघात होगा। मैं मर भी नहीं सकता। लोगों का कर्ज चुकाये बिना मरने का मुझे अधिकार ही नहीं नहीं है। मेरा सर्वस्व भले ही चला गया है, पर सद्‌बुद्धि मेरी बनी हुई है। अगर थोड़ी–सी नई पूंजी मिल जाय तो

कमाई करके मैं कर्ज उतार सकता हूं। मगर कठिनाई तो यही है कि थोड़ी पूंजी भी कहां पाऊँ ?

इस प्रकार सोच-विचार मे डूबे हुए उस वणिक् को अवधनरेश का ख्याल आया। उसने सोचा—अवधनरेश के पास चलना चाहिए। संभव है, उनसे मुझे कुछ सहायता मिल सके। वह अवधनरेश के पास जाने के लिए रवाना हुआ। चलते-चलते वह उसी जंगल मे आया, जहां राजा रहता था। साधारण जंगली के भेष में उसे अवधनरेश मिल भी गया। मगर वह उसे पहिचान नहीं सका। उसने और जंगलियों को तरह उसे भी एक जंगली समझ लिया। उसने उसे आवाज देकर पूछा—'अरे भाई ! अयोध्या का रास्ता कौन-सा है ?'

अवधनरेश—अयोध्या क्यों जा रहे हो ?

वणिक्—मेरा जहाज डूब गया है। मेरे सिर पर कर्ज चढ़ा हुआ है। चाहता हूं, किसी उपाय से कर्ज उतर जाय तो अच्छा है। लेकिन मेरे पास पूंजी नहीं है। पूंजी हो तो अपनी बुद्धि से रुपया कमा कर कर्ज चुका सकता हूं। अयोध्या के महाराज के पास इसी प्रयोजन से जा रहा हूं। आशा है वह मेरा दुःख दूर करेंगे।

अवधनरेश सोचने लगे—लोग अभी तक अवध और अवधनरेश को भूले नहीं हैं। प्रकट में उन्होंने कहा—भाई,

अयोध्या का राजा तो काशीनरेश को अपना राज्य देकर जंगल में चला गया है। इस समय अयोध्या में काशीनरेश का ही राज्य है।

यह दुःसंवाद सुनकर वणिक् को बड़ा दुःख हुआ। अवधनरेश ने उसके मन के भाव को समझ लिया। जिसके अन्तःकरण में दया का वास होता है, वह किसी को दुखी नहीं देख सकता। दुखी को देखते ही उसका हृदय पिघल जाता है और अपने सर्वस्व को त्याग कर भी वह दूसरे का दुःख दूर करने की भरसक चेष्टा करता है।

अवधनरेश ने कहा—भाई, अगर तेरा काम सवा मन सोने से चल सकता हो तो मैं दिला सकता हूँ।

वणिक् को पहले तो विश्वास नहीं हुआ। वह आंख फाड़ कर अवधेश की ओर देखने लगा और मन ही मन पता लगाने लगा कि इसकी बात कहां तक सच है? फिर—बोला अगर सवा मन सोना मिल जाय तो उससे मैं बहुत कुछ कर सकता हूँ और अपने सिर का बोझा-ऋण- उतार सकता हूँ।

अवधनरेश ने सोचा-अपने सिर का बोझ उतारने के लिए इसे द्रव्य की आवश्यकता है। काशीनरेश ने घोषणा कर दी रक्खी है कि वह मेरे सिर के बदले सवा मन सोना देगा। आज नहीं तो कल, एक दिन मैं मर ही जाऊँगा। उस दिन

यह सिर वृथा चला जायगा। ऐसी हालत में आज अगर मेरे सिर से दूसरे के सिर का बोझ उतरता है और किसी की भलाई होती है तो अपने सिर को दे देने मे क्या हर्ज है? यह उपकार का काम करना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

अवधनरेश ने वणिक से कहा-तुम मेरे साथ चलो। वणिक साथ हो लिया। अवधनरेश चलते-चलते काशी आये। राजमहल के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने भीतर सूचना भिजवाई-एक आदमी अवधनरेश का सिर लेकर आया है।

यह समाचार पाकर काशीनरेश को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने सिर लाने वाले आदमी को अपने सामने उपस्थित करने का आदेश दिया। अवधनरेश काशीराज के सामने, वणिक को साथ लेकर पहुँचे। उन्होंने कहा-मेरा सिर ले लो और अपनी घोषणा के अनुसार सवा मन सोना इस वणिक को दे दो।

काशीनरेश को ज्ञात पड़ा, जैसे वह सपना देख रहा हो। उसे अपनी आंखों और अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। चकित भाव से उसने पूछा-क्या अवधनरेश तुम्हीं हो?

अवधनरेश-अभी बहुत दिन नहीं हुए, तब मैं आपसे मिला था। क्या आप इतनी जल्दी मुझे भूल गये? उस दिन मैं अकेला आपके पास आया था। मैंने आपसे कहा

था, आपको अवध का राज्य चाहिए तो ले लीजिए। लेकिन मेरी प्रजा का पालन उसी प्रकार कीजिए, जैसे मैं कर रहा हूँ ! याद तो होगा ही आपको। आप राजा हैं। अपको कोई बात इतनी जल्दी नहीं भूल जाना चाहिए।

काशीनरेश को उस दिन की सभी बातें स्मरण हो आईं। उसका हृदय सहसा बदल गया। विस्मित और चकित भाव से उसने कहा—यह तो मुझे याद आया कि उस दिन आप ही अपना राज्य मुझे सौंपने आये थे; मगर मैं यह नहीं समझ सका कि आप इस व्यक्ति के लिए अपना सिर देने क्यों आये हैं ? जिस सहज भाव से उस दिन आपने राज्य दे दिया था और उसके लिए हृदय में किसी प्रकार की दुविधा नहीं की थी, कोई संकोच नहीं किया था, उसी सहज भाव से आज अपना सिर देने के लिए आप आये हैं। यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। उस दिन मैं ने समझा था कि अवधनरेश कायर है। यह युद्ध करने से डरता है और इसी कारण अपने प्राण बचाने के लिए राज्य सौंप रहा है, पर आज ऐसा नहीं सोच सकता। स्वेच्छापूर्वक सिर देने वाला पुरुष कायर नहीं कहा जा सकता। ऐसा करने के लिए असाधारण वीरता और निस्पृहता की आवश्यकता है। इस कारण मैं जानना चाहता हूँ कि आप किस प्रयोजन से इस व्यक्ति के लिए अपना सिर देना चाहते हैं ?

अवधनरेश—इस प्रपंच में आप पड़ते ही क्यों हैं ? आपको अवध के राजा का सिर चाहिए और वह सामने ही मौजूद है। आप अपनी तलवार संभालिए और अपनी अभीष्ट वस्तु लीजिए।

काशीराज—नहीं, अब ऐसा नहीं हो सकता। पहले कारण जान लूंगा तभी सिर लेने का विचार करूँगा। आप पूरा विवरण मुझे कह सुनाइए।

अवधनरेश—मुझे संदेह है कि कारण जानने के पश्चात आप तलवार चला सकेंगे। उस समय आपकी तलवार चलेगी नहीं। इसलिए अपना काम अभी कर लीजिए।

काशीराज—नहीं चलेगी तो न सही। कारण तो जानना ही है कि दूसरे के लिए आप अपना सिर क्यों दे रहे हैं ?

अवधनरेश—हे राजन् ! अगर मेरा यश-शरीर बना रहे और भौतिक शरीर न भी रहे तो कोई हर्ज नहीं। इन दोनों में मुझे यश-शरीर की रक्षा करना अधिक प्रिय है। भौतिक शरीर तो जाने वाला ही है। रक्षा करने की लाख चेष्टा करने पर भी वह रक्षित नहीं रह सकता। अतएव अपने यश-शरीर की रक्षा के लिए ही मैं अपना भौतिक शरीर दे रहा हूँ। इस बेचारे वणिक का जहाज डूब गया है। यह दूसरों का ऋणी है। इसे धन की आवश्यकता है। मैं सोचता हूँ, एक दिन यह सिर वृथा ही जायगा। आज इससे एक व्यक्ति को

धन मिलता है और उसका दुख दूर होता है तो इसे आज ही देने में क्या हर्ज है ? जब मरना ही है तो किसी का दुःख मिटा कर ही क्यों न मरूँ ?

दया और परोपकार का यह कितना उत्कृष्ट और उज्ज्वल उदाहरण है ? अवधनरेश दूसरे का दुःख मिटाने के लिए अपना सिर भी निछावर करने को तैयार हैं। आप लोगों में कोई ऐसा तो नहीं है जो चार-आठ आने के लिए झूठ बोलता हो और धर्म को धोखा देता हो ? आज अधिकांश लोग ऊपरी भपका दिखलाते हैं, धार्मिकता का प्रदर्शन करते हैं, लेकिन कौन कह सकता है कि वे सच्ची धार्मिकता का पालन कितना करते हैं ? जिसे धर्म का वास्तविक ज्ञान होगा और जो उसका पालन करना चाहेगा, उसे यह शरीर तो मिट्टी का दिखाई देगा। वह इस शरीर को सदा नाशवान् समझेगा। धर्म को वह सजीव और अमर मानेगा।

अवध नरेश ने काशीराज को अपना सिर देने का प्रयोजन समझा दिया। अवधनरेश की बात सुनकर काशीराज सिंहासन से नीचे उतर आया। उसने अपने हाथों अपने सिर का मुकुट उतारा और अवधनरेश के मस्तक पर रख दिया। वह बोला 'अवधनरेश की जय हो!'

नगर में यह बात फैल गई कि अवध के राजा अपना मस्तक देने आये हैं और सीधे राजा के पास गये हैं। यह

बात सुनते ही लोग आपस में कहने लगे—वह दुष्ट फौरन अवधनरेश का सिर धड़ से जुदा कर देगा। इस भयानक आशंका से चिन्तित लोग राजमहल की ओर दौड़े आये। वह जानने के लिए अतिशय व्यग्र थे कि अवधनरेश के विषय में क्या निर्णय किया गया है? उन्हें उसी समय ज्ञात हुआ कि स्वयं काशीराज, अवधनरेश की जय बोल रहे हैं। यह जयकार सुनकर लोगों को कितना हर्ष हुआ, कहना कठिन है। पर उस जयकार के उत्तर में, राजमहल के बाहर से गगनभेरी ध्वनि गूंज उठी—'जय हो मस्तक देने वाले को और जय हो मस्तक लेने वाले की!'

अवधनरेश और काशीराज—दोनों एक ही सिंहासन पर पर गुरु शिष्य की भाँति बैठे। अगर काशीराज अवधेश का सिर काट लेता तो उसे क्या मिलता? क्या वह प्रजा की ओर से सन्मान प्राप्त कर सकता था? नहीं। जो सुनता वही घृणा करता और उसकी क्रूरता पर थूकता। इसके अतिरिक्त काशीराज का सुधार होना शक्य न होता। मगर अवधनरेश के दैवी बल से वह सुधर गया। उस दैवी बल को अपना लेने से काशीराज भी प्रजावत्सल राजा बन गया। संसार में आसुरी बल भी है और दैवी बल भी है। आसुरी बल आसुरी प्रकृति को बढ़ाता है और दैवी बल दैवी प्रकृति को उत्तेजित करता है। विचार करने पर विदित होगा कि इन दोनों में दैवी बल ही महान् है,

मंगलकारी है। मानव समाज के कल्याण के लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। दैवी प्रकृति किसे कहते हैं, इस संबंध में कहा है—

अभय सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग. शान्तिरपैशुनम्।
दया भूते ष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृति. शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ”

गीता, अ० १-५.

यह दैवी सम्पत्ति है। जिसके संस्कार अच्छे होते हैं, उसीको यह सम्पत्ति मिलती है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को को इसी सम्पत्ति का बल दिया था। यही सम्पत्ति व्यक्ति को सुखी, समृद्ध और भाग्यशाली बनाती है। अगर आप अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं तो इस सम्पत्ति को ही प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। कम से कम इतना तो अवश्य ध्यान रखिए कि इस सम्पत्ति का घात होने पर अगर भौतिक सम्पत्ति मिलती हो तो भी इस सम्पत्ति का घात मत होने दीजिए और उस भौतिक सम्पत्ति को ठुकरा दीजिए। निश्चयपूर्वक समझ लीजिए कि दैवी सम्पत्ति संसार में अनुपम और असाधारण बल है। जिसे यह बल प्राप्त हो जाता है उसके लिए संसार मे कोई भी शक्ति ऐसी नहीं रह जाती जो अजेय हो। इसी शक्ति से आत्मा ऊर्ध्वगामी बनता है और अनन्त कल्याण के धाम को प्राप्त करता है।

आपको जो कथा अभी सुनाई है, उस पर विचार कीजिए और सोचिये कि आप अवधनरेश की तरह अंतिम विजय चाहते हैं या कल्पित और क्षणिक विजय के आभास को पाकर ही संतुष्ट हो जाना चाहते हैं? अगर आप आखिरी विजय चाहते हैं तो सादगी को अपनाइये और दैवी बल प्राप्त कीजिये। कभी मनुष्यत्व से नीचे मत गिरिये। निरन्तर प्रयत्न कीजिये कि आपकी आत्मा उन्नत, उज्ज्वल और निर्विकार बनती जाय। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा।

कठिन कर्म

चन्द्रप्रभा ! जग जीवन अन्तर्यामी ।

यह भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रार्थना है । प्रार्थना करते हुए भक्त कहता है—

जय जय जगतशिरोमणि ।

हे जगत् के शिरोमणि ! हे जगदुत्कृष्ट ! तेरा जय जयकार हो । इस कथन पर से विचार उत्पन्न होता है कि भक्त के हृदय में यह विचार क्यों आया ? और जो जगत् का शिरोमणि है, उसका जय जयकार करने से क्या लाभ है । इसके अतिरिक्त जो परमात्मा पूर्ण वीतराग हो चुके हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं, समस्त प्रकृति को जीतकर जगत्—शिरोमणि बन चुके हैं, उन्हें क्या करना शेष रह गया है-किसे जीतना बाकी रहा है, जिसके लिए उनका जयजयकार किया जाता है ।

इस प्रश्न के उत्तर में भक्त जनों का कहना है कि जिन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है, उन्हीं की जय मनानी चाहिए । उन्हीं की जय से संसार का कल्याण हो सकता है । बल्कि उन्हीं की जय में संसार का कल्याण छिपा हुआ है । घड़ा जब तक कच्चा है तब तक उससे किसी का लाभ नहीं होता । वह जल को धारण नहीं कर सकता और किसी की प्यास नहीं बुझा सकता । रसोई

जब तक कच्ची है, तब तक किसी की भूख नहीं मिटा सकती पक जाने पर वह भूख मिटाती है और इस प्रकार दूसरों का कल्याण करती है।

मतलब यह है कि जो वस्तु पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, वही दूसरों का कल्याण कर सकती है। परमात्मा के संबंध में भी यही बात है। वह भी पूर्णता को पहुँच चुका है। पूर्णता प्राप्त करने के कारण ही उसका जयजयकार हुआ है और इसी कारण उसके निमित्त से दूसरों का कल्याण होता है। अतएव भक्तजन परमात्मा के विषय में कहते हैं—हे जगत्-शिरोमणि ! तेरी जय हो।

जो पूर्णता पर पहुँच जाता है वह दूसरे का कल्याण किस प्रकार कर सकता है, यह जानने के लिए अक्षर को देखो। सामने किसी अक्षर को आदर्श रखकर, उसे देख-देख कर उसी सरीखा अक्षर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि दूसरा अक्षर बनाने में, उस पहले अक्षर ने कुछ नहीं किया है, फिर भी उसे देखकर—उसे आदर्श मान कर ही दूसरा अक्षर बनाया गया है। इस प्रकार यह समझना कठिन नहीं है कि जैसे आदर्श अक्षर को देखकर दूसरा वैसा ही अक्षर बनाया जा सकता है, इसी प्रकार जो पूर्ण है वही दूसरे को पूर्ण बना सकता है। जिस प्रकार पूर्ण अक्षर दूसरा पूर्ण अक्षर बनाने में सहायक होकर उपकार करता है;

उसी प्रकार परमात्मा भी पूर्णता पर पहुँच चुका है, और वह हमें पूर्ण पुरुष बनाने में समर्थ है। यद्यपि आदर्श अक्षर को दूसरे बनानेवाले अक्षर से कुछ भी लेना-देना नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा को भी संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। संसार से उसका कोई सरोकार नहीं है। फिर भी वह पूर्ण पुरुष संसार के जीवों को पूर्णता दिलाने में समर्थ है। वह पूर्णता प्राप्त करने में सहायक होता है। इसी कारण उसका जयजयकार किया जाता है। इसीलिए भक्तजन कहते हैं—

जय जय जगत—शिरोमणि !

परमात्मा कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्होंने चरम विजय प्राप्त कर ली है। हमारे जयजयकार करने से परमात्मा की जय नहीं होती है। फिर भी परमात्मा की जय चाहना अपनी नम्रता प्रकट करना है। इस प्रकार कहकर भक्त लोग आगे कहते हैं—प्रभो ! यद्यपि तू पूर्ण है। तू ने सर्वोत्कृष्ट विजय प्राप्त कर ली है। लेकिन अभी तक तुझसे दूर पड़ा हूँ। इसका कारण मेरा भ्रम ही है। मैं सोचता हूँ कि परमात्मा क्या करता है ! मैं स्वयं कमाता हूँ और स्वयं खाता हूँ ! इसमें परमात्मा का क्या उपकार है ? इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विचार के कारण ही मैं तुझसे दूर पड़ा हूँ। लेकिन अब मुझे यह विचार आ रहा है कि जिन विषयभोगों

विषयों से मुझे कभी तृप्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ कल पेट भर भोजन किया था, लेकिन आज फिर भोजन करना पड़ेगा ! संसार के अन्य पदार्थों के विषय में भी ऐसी ही बात है। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसे आत्मा ने न भोगा हो। प्रत्येक पदार्थ को अनंत-अनंत वार आत्मा भोग चुका है। अनादि काल से भोग भोगते-भोगते भी अभी तक आत्मा तृप्त नहीं हुआ। अगर आत्मा को भोग भोगने से तृप्ति संभव होती तो वह कभी की हो गई होती। लेकिन तृप्ति का एक अंश भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। दिन दूनी रात चौगुनी तृष्णा बढ़ती ही दिखाई देती है। इस तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं है। वह आकाश की तरह असीम और काल की तरह अनंत है। तृष्णा अनन्त है और पदार्थ परिमित हैं। वह परिमित पदार्थ अनन्त तृष्णा को किस प्रकार शान्त कर सकते हैं ? इसके अतिरिक्त एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि जो भोग भोगे जाते हैं वे तृष्णा को कम करने के बदले बढ़ाते हैं। जैसे आग में ईंधन डालने से वह बढ़ती है, उसी प्रकार भोग भोगने से तृष्णा बढ़ती ही चली जाती है।

हाँ, इस अनन्त तृष्णा से एक बात अवश्य मालूम पड़ी। यह अनन्त तृष्णा जब आत्मा की ही है तो आत्मा भी अनंत होना चाहिए। तृष्णा अनंत है तो जिसकी तृष्णा है, वह तृष्णा का आधारभूत आत्मा भी अनन्त अवश्य होगा। इस प्रकार

तृष्णा की अनन्तता से आत्मा की अनन्तता का पता चलता है। यह विष में से भी अमृत का निकलना समझिए।

हे प्रभो! यह भान होने पर मैंने अपनी आत्मा से कहा—हे आत्मन्! जब तू अनन्त है तो 'अनन्त' (परमात्मा) के साथ ही अपना संबंध क्यों नहीं जोड़ता? तू परिमित के साथ क्यों चिपटा हुआ है?

प्रश्न होता है कि क्या परमात्मा है, जो उसके साथ संबंध जोड़ा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इच्छा उसी वस्तु की होती है जिसका अस्तित्व हो। जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता उसकी इच्छा भी नहीं होती। भोजन ही न होता तो उसे खाने की इच्छा कहां से आती? इसी के अनुसार भगवान् अनन्त न होते तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा भी न होती। भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होती है, इससे स्पष्ट है कि भगवान् हैं। यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार भोजन दूर हो और इस कारण, उसे प्रयत्न के द्वारा प्राप्त करना पड़े, लेकिन भूख लगने के कारण यह विश्वास तो है ही कि संसार में भोजन भी है। और भोजन दूर है इस कारण वह प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जब दूर होने पर भी भोजन प्राप्त किया जा सकता है तो क्या भगवान् को प्रयत्न द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता? जैसे श्रमसाध्य होने पर भी भोजन मिलता है, वैसी प्रकार

दूर होने पर भी भगवान् प्रयत्न करने से अवश्य मिलता है। अतएव जिसके अन्तःकरण में परमात्मा को प्राप्त करने की भावना जागेगी, वह परमात्मा की ओर आकर्षित होगा, उसे पाने के लिए प्रयत्न करेगा और अन्त में उसे परमात्मा मिले बिना नहीं रहेगा।

कल्पना करो, एक आदमी को भूख लगी है। उसे आप कितने ही प्रलोभन दें, संतुष्ट करने का कितना ही प्रयत्न करें, फिर भी भोजन किये बिना उसे संतोष नहीं होगा। भूख मिटने पर ही उसे संतोष होगा और भूख भोजन से ही मिट सकेगी। आप अपने शरीर पर लाखों के आभूषण भले ही पहन लें, मगर भूख लगने पर वे आभूषण किस काम आएँगे? यह बात दूसरी है कि परम्परा से आभूषणों द्वारा भोजन प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन साक्षात् रूप से उनके द्वारा भूख नहीं मिट सकती। इस प्रकार भूख लगने पर आभूषण बेकार हैं और इसी कारण भूखा आदमी आभूषण पाकर संतुष्ट नहीं हो सकता। आभूषण पाने पर भी उसकी भूख ज्यों की त्यों बनी रहेगी और वह भोजन पाने का ही प्रयत्न करेगा।

इसी प्रकार जिस भक्त के अन्तःकरण में परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा है वह सांसारिक भोग-विलास के प्रलोभन में पड़कर संतुष्ट नहीं हो सकता। बल्कि वह इस

प्रलोभन में पड़ेगा ही नहीं। उसे एक मात्र परमात्मा को प्राप्त करने की ही इच्छा रहेगी। परमात्मा-विषयक उसकी भूख किसी भी दूसरे उपाय से नहीं मिटाई जा सकती।

आपके अन्तःकरण में जब परमात्मा को पाने की ऐसी बलवती इच्छा जागृत हो और आपका मन भोग-विलास की तरफ न जावे और परमात्मा को ही प्राप्त करना चाहे, तब समझना चाहिये कि हमारे भीतर परमात्मा की सच्ची लगन लगी है। जिसके हृदय में ऐसी लगन होगी उसे परमात्मा प्राप्त होगा ही।

जब तक अन्तःकरण मे परमात्मा को प्राप्त करने की बलवती इच्छा उत्पन्न नहीं हुई है, तब तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है। प्रयत्न से ऐसी इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी और आत्मा सही मार्ग पर आ जायगा। घड़ी बिगड़ जाती है या लड़का बिगड़ जाता है तो उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाता है और सुधार हो भी जाता है। इसी आधार पर यह भी मानो कि आत्मा भी सुधर सकता है, केवल प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सांसारिक पदार्थों का सुधार कर लेना ही काफी नहीं है। अपनी आत्मा का सुधार करो। आत्मा का सुधार ही सच्चा सुधार है। जब आत्मा सुधर जायगा तो उसे परमात्मा की प्राप्ति किये बिना किसी भी प्रकार संतोष नहीं होगा। वह पूर्ण प्रयत्न करके परमात्मा को प्राप्त करके ही दम लेगा।

आजकल के लोगों को आत्मा के सुधार के लिए किसी कठिन क्रिया करने में घबराहट होती है। वे जरा-सी कठिनाई सामने आने पर हिम्मत हारने लगते हैं। मगर कठिनाई में पड़ने की अनिवार्य आवश्यकता ही कहां है? ज्ञानियों ने इसके लिए बहुत ही सरल उपाय बतलाये हैं। उनके बतलाये उपाय करने से कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती और आत्मा का सुधार भी हो जाता है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि तुम्हें जो कठिनाई दिखलाई पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही है। अज्ञान को दूर करदो तो कुछ भी कठिनाई नहीं रहेगी। शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह अज्ञान मिटाने के लिए ही दिया गया है। उस उपदेश को सुनकर अज्ञान हटाओ। फिर देखोगे कि तुम्हारे आगे की सभी कठिनाइयां समाप्त हो गई हैं और तुम्हारा मार्ग एक दम साफ और सुगम बन गया है।

अज्ञान के कारण अकेले बाल जीव ही नहीं किन्तु कभी-कभी महापुरुष भी चक्कर में पड़ जाते हैं और फिर कोई दूसरे महापुरुष ही उन्हें ठीक रास्ते पर लाते हैं। बड़े-बड़े भी किस प्रकार चक्कर में पड़ जाते हैं, यह बात इतिहास से मालूम हो सकती है।

पाण्डवों को कौरवों की ओर से बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास दिया गया था। कौरवों का यह

कार्य किसे पसंद आ सकता था ? उस समय के और आज कल के सुनने वालों को भी कौरवों का यह कार्य पसंद नहीं आता तो जिनको स्वयं वनवास का कष्ट भुगतना पड़ा, उन्हें वह कैसे पसंद आता ? पाण्डवों में सिर्फ युधिष्ठर ही ऐसे थे जिन्हें धर्म पर पूरा विश्वास था और इस कारण वे वनवास से नहीं घबराये थे। उनके चारों भाई और द्रौपदी घबरा उठी थी। इनका कहना था कि हम में शक्ति मौजूद है, फिर वनवास के दुःख भोगने की क्या आवश्यकता है ? अर्जुन कहते थे—'दुर्योधन मेरे एक ही बाण का है।' भीम गरज कर कहता था—'दुर्योधन किस गिनती में है ? मैं अपनी गदा से उसको चटनी बना सकता हूँ।' सच पूछो तो अर्जुन और भीम सरीखे वीरों का सामना करना कोई मामूली बात नहीं थी। दुर्योधन की क्या मजाल थी कि वह इनका सामना करके विजयी होता ! इस प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी वनवास का कष्ट भोगना उनकी समझ में उचित नहीं था। उनके इस प्रकार समझने और कहने पर भी युधिष्ठर वनवास भोगना क्यों ठीक समझते थे ? उनके वनवास भोगने में क्या रहस्य था ? गहरा विचार करने पर ही इस रहस्य का पता लग सकता है।

महाभारत के अनुसार जब पाण्डवों को वनवास दिया गया था और द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया गया था, उस

मय कृष्ण द्वारिका में नहीं थे। वे कहीं बाहर गये हुए थे। कृष्ण जब लौटकर द्वारिका पहुँचे तो वहां के वृद्धजन रोकर कहने लगे—पांडवों पर बड़ी कड़ी मुसीबत आ पड़ी है और वे वनवास भोग रहे हैं। सरल हृदय पांडव ऐसी विपदा में हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। वे वीर हैं और सज्जन हैं। लेकिन दुष्ट कौरवों ने उन पर भीषण अत्याचार किया है। यहां तक कि द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया! भले ही उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ फिर भी इससे उनकी दुर्भावना कम नहीं हो सकती। पांडवों को वनवास स्वीकार करना पड़ा है।

कृष्ण ने पाण्डवों के वन जाने का समाचार सुनकर पूछा—पाण्डवों का ऐसा क्या अपराध था, जिसके कारण उन्हें वन जाना पड़ा और द्रौपदी की दुर्गति हुई? वृद्ध जनों ने उत्तर दिया—अन्याय के सामने अपराध होने या न होने का प्रश्न ही कहां उठता है? जिसे अन्याय करना है, अपना स्वार्थ साधना है, वह यह कब देखता है इसने अन्याय किया है या नहीं किया है?

कृष्ण ने पूछा—इस समय वे कहां हैं?

वृद्धजन—वन में वनवासी लोगों की तरह भटकते फिरते हैं।

यह कथन सुनकर कृष्णजी कुछ मुसकराये। वृद्धजनों की समझ मे नहीं आया कि कृष्णजी दुःखी होने के बदले

मुसकराते क्यों हैं ? उन्होंने कहा—क्या कारण है कि आप पाण्डवों की दुर्दशा को कथा सुनकर मुसकरा रहे हैं ?

कृष्ण-मेरी मुसकराहट का कारण आप लोग नहीं जानते। मगर समय आने पर आप जान जाएंगे। इस समय मैं पांडवों से मिलना चाहता हूँ। सुख के समय चाहे न भी मिलता लेकिन दुःख के समय मिलना ही चाहिए।

कृष्ण रथ पर सवार होकर खाडव वन गये। वहां द्रौपदी सहित पांडव पर्णकुटी बनाकर रहते थे। कृष्ण पहुंचे। पांडवों के पास उस समय स्वागत के योग्य कोई विशिष्ट सामग्री नहीं थी, तथापि स्नेह और श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय उनके पास था और उदार आशय वाले पुरुषों के लिए यही पर्याप्त होता है। विवेकशील पुरुष द्रव्य की अपेक्षा भावको ही प्रधानता देते हैं। कृष्णजी प्रेम के साथ बिछाई गई चटाई पर आसीन हुए। कृष्णजी के बैठ जाने पर आसपास पाण्डव भी बैठ गये और तनिक दूर द्रौपदी भी बैठी।

कृष्णजी बड़े कुशल थे। उन्होंने पाण्डवों और द्रौपदी के चेहरों पर एक उड़ती निगाह डाली और समझ गये कि द्रौपदी की दृष्टि में उग्रता है। यह देख कर उन्होंने सर्व प्रथम द्रौपदी से ही प्रश्न किया—'कृष्णा! आनन्द मे तो हो ?'

द्रौपदी राजकुमारी थी। बाल्यकाल से ही वह सुखों में रही और उसने कभी नहीं जाना था कि दुःख किस चिड़िया

का नाम है ! वह राजसी भोग भोगती थी और राजसी भोजन में भी रुचि नहीं रखती थी। मगर दुर्योधन के प्रपंच में पड़कर इन दिनों वह बहुत परेशान हो उठी थी। आज वह नगर छोड़कर जगल मे और महल छोड़कर झोंपड़ी मे रहती है। षट्रस व्यंजन के बदले उसे जंगल के फल-फूलों पर निर्वाह करना पड़ता है। आज उसे किसी भी प्रकार की सुख-सुविधा नहीं है। उसे लगता है, मानों उसके जीते जी ही जीवन बदल गया है ! यह सब जानते हुए भी कृष्णजी उससे पूछ रहे हैं—'कृष्णा आनन्द में तो हो ?' आखिर इस प्रश्न का रहस्य क्या है ? इस रहस्य का पता उन्हीं से लग सकता है।

प्रश्न के उत्तर में द्रौपदी कहने लगी—कृष्णजी ! आपने मुझे अपनी बहिन बनाया है। लेकिन आपकी इस बहिन की आज कल क्या दशा हो रही है, यह तो आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। आपकी बहिन की जैसी दुर्दशा हुई है वैसी शायद किसी की न हुई होगी। दुष्ट कौरवों ने मेरी ऐसी दशा की है कि कहा नहीं जा सकता। भरी सभा में उन्होंने मेरी लाज छीन लेनी चाही। वे मुझे नग्न करना चाहते थे, मगर न जाने किस अदृश्य शक्ति ने मेरी रक्षा की। मैं सर्वथा निर्दोष थी और हूँ। फिर भी पापी दुश्शासन मुझे महल में से सभा में खींच लाया। उसने मेरे सिर के केश पकड़ कर खींचे हैं और इस प्रकार मेरे केशों को मलीन कर दिया है। राजसभा

में साधारण कुल की स्त्री भी नहीं बुलाई जाती और केश तो किसी के खींचे ही नहीं जाते। मगर आपकी बहिन के साथ यह सब दुर्व्यवहार किया गया। मैंने सभा में प्रश्न किया था—आप सभा में उपस्थित गुरुजन मेरे लिए पूज्य हैं। इसलिए मैं आपसे पूछती हूँ कि धर्मराज पहले अपने आपको हारे हैं या पहले मुझे हारे हैं? अगर वे पहले मुझे हार गये हों तब तो कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो मेरे साथ यह अन्याय क्यों किया जाता है? सभा में उपस्थित लोगों को भली भाँति मालूम था कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे, फिर भी किसी ने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। सब के सब मौन होकर बैठे रहे, मानों सब की जीभ पर ताला लगा हो। किसी ने मुँह खोलने का साहस नहीं किया। अलबत्ता एक वीर युवक उस समय अवश्य बोला था, मगर उसे कौरवों ने सभा से बाहर निकाल दिया।

मेरे प्रश्न को सुनकर दुर्योधन कुछ देर के लिए हतप्रभ हो गया था। वह न्याययुक्त तरीके से उसका प्रतिकार करने में असमर्थ था। अतएव वह और क्रुद्ध हो गया और दुश्शासन से कहने लगा-'इस कानून बघारने वाली का मुख बंद करदे! अब आप बतलाइए, किसी का इस प्रकार बलात् मुख बंद कर देना क्या उचित कहा जा सकता है? दुश्शासन मेरा वस्त्र खींचने लगा। मैंने वहाँ उपस्थित सब लोगों से उस

भयंकर अन्याय को रोकने की प्रार्थना की। मगर किसी के कान पर जूं न रेंगी। सभी कानों में तेल डाले, प्रतिमा की तरह चुपचाप बैठे रहे।

अन्याय, अत्याचार और उपेक्षा का यह दृश्य देखकर मुझे बड़ी निराशा हुई। तब मैंने विचार किया—दूसरे लोग चुप हैं तो रहें, यह पांचों भाई क्या कम हैं? अगर इन्हें तो आवेश आवेगा ही। यह सोचकर मैंने अत्यन्त करुण शब्दों में इन सबसे कहा—यह मेरी नहीं, तुम्हारी लाज जा रही है। इस कारण मेरी रक्षा करो। मेरी करुण पुकार सुनकर भीम और अर्जुन उठे भी, मगर धर्मराज ने बांह पकड़कर दोनों को फिर बैठा दिया। तब मैंने सोचा—'वास्तव में कोई किसी का नहीं है।'

हे कृष्ण! मैं सोचती हूं, आप वहां होते तो मेरी रक्षा अवश्य करते। परन्तु दुर्दैव से आप वहां मौजूद नहीं थे। अतएव मैंने परमात्मा का स्मरण करके कहा–'प्रभो! मैं तेरी शरण हूँ।' इस प्रकार मन ही मन प्रार्थना करके मैंने अपना मन परमात्मा में लगा दिया। उस समय शरीर पर से भी मैंने ममता हटा ली। मैं अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर चुकी थी। पितामह भीष्म जैसे आदर्श पुरुष भी वहां मौजूद थे और पतिदेव भी चुपचाप बैठे थे। तब अकेली मैं क्या कर सकती थी? इस प्रकार सोचकर मैंने शरीर का ममत्व त्याग

दिया। शरीर पर से ममत्त्व त्याग देने के पश्चात् क्या हुआ, यह मुझे मालूम नहीं लेकिन मैंने सुना है कि उस समय मेरे शरीर के वस्त्र इतने बढ़ गये थे कि दुश्शासन खींचते-खींचते थक गया था, पर वह मुझे नग्न नहीं कर सका। साथ ही सभा मे बहुत क्रान्ति हुई। उस समय मैंने अंधराज को यह कहते सुना— 'हे कुलवधू। क्षमा करो।' यह आवाज सुनकर मैं अपने आपे में आई। उस समय मैंने देखा कि सभा में केवल धृतराष्ट्र ही हैं, और कोई नहीं है। वे कह रहे हैं—हे कुल वधू। मेरे पापी पुत्रों को क्षमा करो। मैं तुमसे क्षमा मांगता हूँ। मैंने उनसे कहा—आप मेरे पूज्य हैं। मैं ही आपसे क्षमा मांगती हूँ।

इतना कहकर द्रौपदी ने एक लम्बी सांस ली। फिर उसने कहा—हे भाई! मेरे लिए वह समय कितने कष्ट का था! मुझे कितना कष्ट सहन करना पड़ा है, किस प्रकार घोर अपमान सहना पड़ा है! क्या यह आपके लिए भी लज्जा की बात नहीं है?

द्रौपदी की यह बात सुनकर कृष्ण हंस पड़े। द्रौपदी के विषाद का पार न रहा। वह समझती थी कि मेरी कष्ट कथा सुनकर कृष्णजी सहानुभूति प्रकट करेंगे और दुःख के आंसु बहाएंगे। मगर कृष्णजी की हँसी ने उसकी धारणा को नष्ट कर दिया। वह तिलमिला उठी। बोली—मेरे दारुण दुःख की कहानी क्या आपने मनोरंजन के लिए ही सुनी है?

कृष्णजी ने कहा—बहिन ! तुझे नहीं मालूम कि मैं क्यों हँसा हूँ ! तुझे यह भी पता नहीं कि इतने कष्ट आने का कारण क्या है ।

द्रौपदी—क्या इसमें भी कोई रहस्य है ?

कृष्ण—हां ।

इसके बाद कृष्ण बोले—किसी साधारण स्त्री को कष्ट हो और वह रोवे तो उसका रोना अनुचित नहीं कहा जा सकता। मगर तुम्हारा रोना उचित नहीं है । तुम्हें विचार करना चाहिए कि तुम्हारे कष्टों का कारण क्या है ? तुम जैसी महिला को भी कष्ट न हो और तुम्हारी सरीखी महिला अगर उन कष्टों को सहन न करले तो जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है ? लोग अकसर दुःख आ पड़ने पर घबड़ा जाते हैं, मगर यह नहीं सोचते कि इनके पीछे क्या रहस्य छिपा हुआ है ! दुःखों के पीछे रहे हुए रहस्य का विचार करके मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए । तुम दुःखों से घबरा रही हो, मगर दुःख ही तो सुख का बीज है । तुम्हारे इन दुःखों में ही जगत् का कल्याण छिपा है । तुम अपना दुःख देखती हो किन्तु उसके भीतर छिपा कल्याण नहीं देखतीं । दुर्योधन पर मुझे किसी प्रकार कोप नहीं है । मैं सिर्फ यह कहता हूँ कि वह मदोन्मत है । उसके पापों का घड़ा तुम्हारे साथ घोर अन्याय करने से भर गया है । वह तलवार के बल पर सबके ऊपर शासन करना

चाहता है। अगर दुर्योधन सब के हृदय में बैठना चाहता तब तो कोई झंझट न होता। इस स्थिति में उसका व्यवहार इससे उलटा ही होता। मगर वह हृदय में नहीं बैठना चाहता—सिर पर सवार होना चाहता है। उसके द्वारा तुम्हें कष्ट क्यों सहन करने पड़े और धर्मराज ने तुम्हें इन कष्टों से क्यों नहीं बचाया, यह तुम नहीं जानती। इसी कारण तुम दुःख मना रही हो। उस समय मैं वहां नहीं था। कदाचित होता भी तो चुपचाप धर्मराज के पास बैठा रहता और तुम्हें कष्ट से बचाने का प्रयत्न न करता।

द्रौपदी—आह। क्या आप भी मेरा घोर अपमान बैठे-बैठे देखते रहते ?

कृष्ण—बहिन। जिसे तुम अपमान कहती हो, उसे अगर मैं भी अपमान समझता तो हर्गिज चुपचाप सहन न करता। तुम जानती नहीं हो, इसी कारण उन घटनाओं को अपना अपमान समझती हो और दुःख मानती हो। जब रहस्य को जान जाओगी तो वे घटनाएं न अपमान जान पड़ेंगी और न उनके कारण दुःख ही मनाओगी।

मित्रो ! दुःख तो कभी-कभी आपके माथे पर भी आ पड़ता होगा, मगर मनुष्य को इससे घबराना नहीं चाहिए। दुःख अगर बीमारी है तो घबराहट उसकी दवा हर्गिज नहीं है। घबराहट दुःख को कई गुना बढ़ा सकती है, घटा

नहीं सकती। अतएव दुःख आने पर धीरज और हिम्मत के साथ उसका सामना करना चाहिए। हिम्मत के साथ उसे पचा लेना चाहिए। गरिष्ठ भोजन, पचाने की शक्ति रखनेवालों को बल प्रदान करता है और जिनमें पचाने की शक्ति नहीं है, उन्हें अधिक निर्बल बनाता है। यही बात दुःख के सबन्ध में है। दुःख किसी को सबल बनाता है, किसी को निर्बल बनाता है। धैर्य रख कर जो दुःख को पचा लेता है वह सबल बन जाता है। जो दुःख पड़ने पर हिम्मत हार बैठता है, रोता-झींकता है और दीनता धारण कर लेता है, वह और अधिक दुर्बल बन जाता है।

दुःख आने पर विचार करो कि मैं कौन हूँ ? मैं उन भगवान् महावीर का शिष्य हूँ, जो इन्द्रों द्वारा पूजनीय थे, फिर भी जिनके कानों में कीलें ठोंके गये थे, जिनके ऊपर कुत्ते छोड़े गये थे! लेकिन भगवान् ने इन दुःखों की तनिक भी परवा नहीं की थी। मैं उन महाप्रभु महावीर का शिष्य होकर भी क्या दुःखों के समय रोने बैठूं ? इस प्रकार सोचकर फिर विचारना चाहिए-मुझे दुःख क्यों हो रहा है, यह मैं नहीं जानता। इसके पीछे क्या रहस्य छिपा है, यह भी मुझे नहीं मालूम। लेकिन यह निश्चित है कि इसमें रहस्य है। मुझे दुःख से घबराना नहीं चाहिए—धैर्यपूर्वक उसे सहन करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर

जो पुरुष दुःख के समय दृढ़ता रखता है और विषाद नहीं करता उसकी आत्मा का कल्याण होता है।

जब श्रीकृष्ण, द्रौपदी से इस प्रकार कह रहे थे, तब भीम ने बीच में टोक कर उनसे कहा—आपका कथन यथार्थ है पर उन अंधे के कपूतों को उस समय जरा भी औचित्य का ध्यान नहीं रहा। क्या यह विचारणीय बात नहीं है? उस घटना के लिए हम लोगों को लज्जित नहीं होना चाहिए?

भीम की क्रोध से भरी बात सुनकर श्री कृष्ण उनकी ओर मुड़े और कहने लगे—भीम, द्रौपदी की अपेक्षा तुम्हें समझाना कठिन है। तुम्हें अपने बल का अभिमान है और जिसे अभिमान होता है उसे समझाना कठिन होता है। तुम जो कह रहे हो सो अपने स्वभाव के अनुसार कह रहे हो। पर यह तो सोचो कि दुर्योधन ने सब के सामने द्रौपदी को क्यों नग्न करना चाहा था? इसका कारण यही था कि उसके पापों का घड़ा भर चुका था और अब उसका भंडाफोड़ होना लाजिमी था। उसका पाप इतना बढ़ गया था कि वह प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकता था। उसने पहले जो कुछ किया था वह छिप कर और प्रकट में हितैषी बनकर किया था। लेकिन इस कृत्य ने उसके पापों को प्रकट कर दिया है। अब सभी जान

गये हैं कि दुर्योधन कितना अन्यायी और पापी है। द्रौपदी को नग्न करने की घटना को सुनकर कौरवों के शत्रुओं को तो घृणा हुई ही है, साथ में उनके मित्रों को भी कम घृणा नहीं हुई है। दुर्योधन के हितैषी भी उसके इस अपराध के कारण उस पर रुष्ट हो गये हैं। इस प्रकार उसका पाप चरम सीमा पर पहुंच गया है और उसकी स्थिति बहुत कमजोर हो गई है। इस घटना ने तुम्हारा महत्व बढ़ाया है और कौरवों का पाप बढ़ाया है। लाखों उपाय करने पर भी जगत से जो सत्कार तुम्हें नहीं मिल सकता था, वह सत्कार इस घटना से मिल गया है। भले दुर्योधन तुम लोगों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करता फिरे, मगर अब उसका प्रयत्न निष्फल ही होगा। इस घटना के कारण वह तुम्हारी निन्दा फैलाने में असमर्थ हो गया है। इस प्रकार जो कुछ हुआ है उसके लिए शोक और परिताप मत करो। तुम्हारे हक में अच्छा ही हुआ है। तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए।

तुम यह सोचकर लज्जित होते हो कि हम लोग द्रौपदी का अपमान चुपचाप देखते रहे और कुछ बोले नहीं। पर तुम्हारा यह सोचना उचित नहीं है। तुम्हारी क्षमा ने ही इस घटना का मूल्य बढ़ाया है। मैं मानता हूँ कि तुम वीर हो और तुम्हारी भुजाओं में असीम बल है, फिर भी उस समय होने वाले अपमान को तुम रोक नहीं सकते

थे। कदाचित् रोक देते तो भी आज तुम्हारी स्थिति जितनी मजबूत है उतनी न होती। द्रोपदी की लाज तो रह ही गई, मगर तुम्हारी शान्ति ने घटना के स्वरूप को एक दम बदल दिया है। जिन घटनाओं के कारण तुम दुख मना रहे हो, उनके पीछे क्या रहस्य है, यह तुम्हें नहीं मालूम। अदृष्ट पर्दे की ओट मे क्या खेल खेल रहा है, दैव का क्या विधान है और किस योजना से उसकी पूर्ति होती है, यह समझना सर्व-साधारण के लिए सरल नहीं है। इस घटना के रहस्य को मैं जानता हूँ या युधिष्ठिर जानते हैं।'

कृष्णजी के इस कथन का भाव स्पष्ट है। इस कथानक का विस्तार न करते हुए सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जब किसी प्रकार का दुख या संकट आ पड़े तो उसे शान्तिपूर्वक सहन करना ही योग्य है। ऐसे विकट समय में आत्मविस्मृत हो जाना उचित नहीं है। कष्ट जीवन की कसौटी है। माथे पर चढ़े हुए ऋण का बोझ है। मगर वह बोझ उतर जाने पर आत्मा उसी समय हल्का होता है जब समभाव से, शान्त चित्त से, कष्ट सहन किये जाते हैं। चित्त में शान्ति और समता न रही तो कषाय का उद्रेक होगा और उस अवस्था में बोझ घटने के बदले बढ़ जायगा। जरा विचार कर देखोगे तो स्पष्ट मालूम होगा कि रोने-चिल्लाने से कुछ भी तो लाभ नहीं होता। ऐसा करने से कष्ट कुछ कम तो हो नहीं जाते, उलटे असह्य मालूम होने लगते है और भविष्य भी बिगड़ जाता है। कष्ट

और संकट आने पर अगर दृढ़ता और वीरता के साथ उन्हें सहन किया जाय तो दुःख का अनुभव होगा ही नहीं, अगर हुआ भी तो अपेक्षाकृत बहुत कम होगा। संकट आने पर दीन-दुखी बन जाना संकट से पराजित होना है और दृढ़ता रखना संकट पर विजय पाना है। वीर और विवेकी पुरुषों को दीनता धारण करना शोभा नहीं देता। जिसने धर्म का श्रवण और मनन किया है वह संकटों से नहीं घबराता। वह सकटों को चुनौती देकर कहता है—'आ, तू अपनी शक्ति आजमा देख। अन्त मे तुझे पराजित होना पड़ेगा। आत्मा की शक्ति के सामने तू नाचीज है।' इस प्रकार की दृढता धारण करते ही संकट आधा रह जाता है।

कातर मनोवृत्ति के लोग जरा-सा संकट आते ही घबरा जाते हैं। उन बेचारों को मालूम ही नहीं है कि उनकी कातर मनोवृत्ति ही संकट को कई गुना बढ़ा रही है। ऐसे लोग धर्म पर भी अश्रद्धा करने लगते हैं। इस प्रकार की दुर्बल मनोवृत्ति वालों का साहस नष्ट हो जाता है। यहां तक कि उन्हें ऐसी वस्तुएँ त्यागना भी कठिन हो जाता है, जिनका सेवन करने से महान् पाप होता है। उदाहरणार्थ आपसे विदेशी शक्कर और मिल के चर्बी वाले वस्त्र त्यागने के लिए कहा जाता है, लेकिन आप में से कितनों ने त्याग किया है? यह मनोवृत्ति की दुर्बलता ही है।

अन्त में द्रौपदी ने कहा था–कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि दुर्योधन महल में मौज करता है और हम लोग यहां वन में कष्ट भोग रहे हैं।

तब श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—तुम फिर भूल कर रही हो। दुर्योधन राजमहल की रगड़ से क्षीण हो रहा है और पाण्डव वन मे विकसित हो रहे हैं और बलवान् बन रहे हैं। इस बात को तुम क्यों भूल रही हो? यों मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। तुम सब को वन में से द्वारिका ले जा सकता हूँ। द्वारिका के राजमहलों में तुम्हारे योग्य पर्याप्त स्थान है। लेकिन ऐसा करना मैं उचित नहीं समझता। पाण्डवों के इस वनवास को मैं कष्ट नहीं समझता वरन् तप समझता हूँ। अतएव उचित यही है कि तुम सब वन में रहकर धैर्य पूर्वक तप करो। इसका परिणाम निश्चित रूप से अच्छा ही होगा।

खादी पहनने में भले ही कष्ट प्रतीत होता हो, मगर ऐसा कष्ट सहना भी एक प्रकार का तप है। इसे समझो और चर्बी के वस्त्र त्यागो। सत्य को समझ कर भी आँख मिचौनी करना ठीक नहीं है। जिसे धर्म प्यारा होगा वह निश्चय करेगा ही कि जिस भोजन और वस्त्र से आत्मा का पतन होता है, वह भोजन और वस्त्र मेरे काम का नहीं है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा को व्यवहार में लाने वाला ही सच्चा धर्मात्मा कहलाता है। जिसकी धर्ममय श्रद्धा और जिसका आचार एक रूप हो जाता

है वह पुरुष भाग्यशाली है । वही परमात्मा का प्यारा है। वही सच्चा भक्त है और उसी की परमात्म प्रार्थना वास्तविक है। वही पुरुष कल्याण का वरण करता है।

सच्ची दया

जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ।

यह भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना है । इस प्रार्थना की कड़ियां सरल है और इसके भाव स्पष्ट हैं । लेकिन मनन करने पर इसमे गभीर बातें दिखाई देती हैं । यह तो आप जानते ही हैं कि सादी बातों में भी गंभीर भाव छिपे रहते हैं । इस प्रार्थना में भी एक गभीर बात की सूचना की गई है ।

कहा जा सकता है कि जब आत्मा का ही बोध करने की आवश्यकता है तो भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में जाने से क्या लाभ है ? इस कथन के उत्तर में ज्ञानी जनों का कहना है कि आँखों में ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण लेनी ही पड़ती है । अगर सूर्य की या किसी दूसरे प्रकाश की शरण न ली जाय तो आँखों मे ज्योति होने पर भी कुछ दिखाई नहीं देता । आंखों मे ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण मे जाना पड़ता है, इसका कारण यह है कि आंखों मे अपूर्णता है । आखों की अपूर्णता के कारण सूर्य की सहायता लिये विना काम नहीं चलता । इसी तरह आत्मा भी अपूर्ण है । आत्मा मे अभी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह स्वतन्त्र रूप से अपना बोध कर सके । अतएव जिस तरह आँखों की अपूर्णता

के कारण सूर्य का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे अपूर्णता होने के कारण परमात्मा की सहायता ली जाती है। स्तुतिकार कहते हैं—

सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ।

अर्थात्—हे मुनियों के नाथ ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है।

इस प्रकार अनन्त सूर्यों से भी बढ़कर जो भगवान पार्श्वनाथ हैं, उनकी सहायता आत्मा के उत्कर्ष के लिए अपेक्षित है। भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में गये विना आत्मा का बोध नहीं हो सकता। जो अपनी इस वास्तविक कमजोरी को जानता होगा और अपनी कमजोरी से डरा होगा, वह पार्श्वनाथ की शरण में गये विना नहीं रहेगा।

कोई कह सकता है—जब आत्मा का उत्कर्ष करने के लिए भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में जाने की आवश्यकता अनिवार्य है और शरण में गये बिना काम चल ही नहीं सकता, तब फिर पार्श्वनाथ की ही शरण में जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में आत्मा का बोध प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि अंधे के लिये लाखों सूर्य भी किस काम के ? सूर्य से वही व्यक्ति लाभ उठा सकता

है जो स्वयं आंख वाला है। सूर्य का प्रकाश फैला होने पर भी अगर कोई अपनी आंख मूँद रखता है तो वह सूर्य से कोई लाभ नहीं उठा सकता। इस प्रकार भगवान् की शरण जाने पर भी आत्मबोध की आवश्यकता है। जो अपनी आत्मा का उत्कर्ष साधना चाहता है उसे आत्मबोध भी प्राप्त करना होगा और ईश्वर की शरण भी लेनी होगी। आत्मदृष्टि के बिना भगवान् की शरण में जाना अंधे का सूर्य की शरण में जाने के समान है। अतएव भगवान् की शरण गहने के साथ-साथ आत्मबोध प्राप्त करना भी आवश्यक है।

पूर्वकृत कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से ही हम लोग भगवान् पार्श्वनाथ के समीप हुए हैं। भगवान पार्श्वनाथ को शास्त्र में 'पुरुषादानी पार्श्वनाथ' कहा है। इस प्रकार जगत में उनकी बड़ी ख्याति है। बल्कि बहुत लोग तो जैनधर्म को पारस-नाथ का ही धर्म समझते हैं वे जैनधर्म के अनुयायियों को पारसनाथ का चेला कहते हैं। अगर हम भगवान् पार्श्वनाथ का चेला कहलाने में अपना गौरव समझते हैं तो हमें विचार करना चाहिए कि उन्होंने अपने जीवन में ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य किया था, जिसके कारण उनकी इतनी ख्याति हुई? और हम लोग जब उनके चेले हैं तो हमें क्या करना चाहिए? भगवान् ने अपनी ख्याति फैलाने के लिए न किसी की गुलामी की थी और न किसी को यह प्रेरणा ही की थी कि तुम हमारी प्रशंसा करो। ऐसा करने से ख्याति फैलती भी नहीं

है। तो फिर भगवान् ने क्या किया था ? यह विचारणीय बात है। इस जगत् पर भगवान् पार्श्वनाथ का अनन्त उपकार है। इसी कारण जगत् के लोग उन्हें मानते हैं। उनमें अनन्त असीम करुणा थी। संसार का यह रिवाज ही है कि जो वस्तु इष्ट होती है, उसे प्राप्त कराने वाले को बहुत चाहा जाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की अच्छाई का असर भी दूसरों पर पड़ता है। अच्छे रत्न का प्रभाव सारे जगत पर पड़े बिना नहीं रहता। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत को वही मूल्यवान् वस्तु का उपहार प्रदान किया था, जिसकी उसे अत्यन्त आवश्यकता थी और जिसके अभाव में जगत व्याकुल, दुःखपूर्ण और अशान्त था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत को वे गुण बतलाये जिनसे जगत का कल्याण होता है। भगवान् ने जिन गुणों से विश्व का कल्याण होते देखा, उन्हीं गुणों को अपनाने के लिए जोर दिया और उनके भक्तों ने वे गुण अपनाए। भक्तों के इस कार्य से भगवान् पार्श्वनाथ अधिक प्रसिद्ध हुए। भगवान् को वस्तुतः भक्त ही प्रसिद्ध करते हैं और भक्त ही बदनाम भी करते हैं। इस तथ्य को समझ लेने के पश्चात् हम सब को अपना कर्त्तव्य स्थिर करना चाहिए।

भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र में एक बड़ी बात देखी जाती है। मैंने अनेक महापुरुषों के जीवन चरित देखें हैं और उनमें भी यह बात पाई जाती है। जिन्हें लोग महापुरुष मानते हैं उनकी जीवनी में यह बात प्रायः देखी जाती है।

साधारण लोग सांप को जहरीला कहकर उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते हैं, लेकिन महापुरुष सांप पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। भगवान् महावीर ने चंड कौशिक सांप का उद्धार किया था, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। कृष्ण के जीवन चरित्र में भी सांप का संबंध पाया जाता है। मुहम्मद साहब के चरित्र में भी सांप का वर्णन आया है। इसी प्रकार ईसा के चरित्र में भी सांप का उल्लेख आता है। भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र में भी सांप का संबध पाया जाता है। इससे प्रकट होता है कि महापुरुष माने जाने वाले व्यक्तियों के चरित्र में सांप का संबध आता ही है और वे अपने महापुरुषत्व का प्रभाव सांप पर डालते हैं। समवायांग सूत्र में तीर्थंकरों के जो चौवीस चिह्न बतलाये गये हैं, उनमें भगवान् पार्श्वनाथ का चिह्न सांप ही बतलाया है। सांप ने उनके मस्तक पर छाया करके उनकी रक्षा की थी। बौद्ध साहित्य में एक जगह उल्लेख आया है कि एक भिक्षु को सांप ने काट खाया। जब उस भिक्षु को बुद्ध के पास ले जाया गया तो बुद्ध ने कहा-तुमने सांप के प्रति मैत्री भावना नहीं रखी थी, इसी कारण साप ने तुम्हें काटा है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जब जहरीले सांप पर भी प्रभाव डालकर उसे सुधारा था तथा उसका कल्याण किया था, तब क्या आप उन मनुष्यों को नहीं सुधार सकते जो आपकी दृष्टि

में जहरीले हैं ? अगर आप अपने जीवन की उज्ज्वलता की किरणें ऐसे लोगों के जीवन पर भी बखेर दें और उन्हें सुधार लें तो जनता पर आपका कैसा प्रभाव पड़े !

भगवान् पार्श्वनाथ ने सांप का कल्याण किस प्रकार किया था, इस वृत्तान्त को ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में विशद रूप से लिखा है। कहा गया है कि भगवान् के पूर्व के दसवें भव के भाई कमठ, जो नरक में जाता, उसका भगवान् ने सुधार किया था और उसका भी कल्याण किया था। लोग दुःख को बुरा कहते हैं मगर ज्ञानी पुरुष दुःख की भी आवश्यकता समझते हैं। दुखों को सहन करके हम अपना भी कल्याण करते हैं और दूसरों का भी। दुःख सहने से स्व-पर-कल्याण होता है, यह बात भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र से समझी जा सकती है।

भगवान् पार्श्वनाथ जब बालक थे, उस समय उनके पूर्ववर्त्ती दसवें भव का भाई तापस बनकर आया। उसने धूनियां जगाईं और इससे लोग बहुत प्रभावित हुए। झुंड के झुंड लोग उस तापस के पास जाने लगे और अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने लगे। भगवान् पार्श्वनाथ की माता ने उनसे कहा– नगर के बाहर एक बड़ा भारी तपस्वी आया है। वह उग्र तपस्या कर रहा है। सब लोग उसे देखने के लिए जाते हैं। मेरे साथ तुम भी चलो तो हम सब भी देख आवें।

महापुरुष सादे बनकर प्रत्येक काम करते हैं। अतएव माता के कहने पर भगवान् पार्श्वनाथ ने तपस्वी के पास जाना स्वीकार कर लिया। माता के साथ वे तापस स्थान पर गये। भगवान् राजकुमार थे और उनकी माता महारानी थीं। दोनों को देखकर तापस बहुत प्रसन्न हुआ। वह सोचने लगा—जब राजरानी और राजकुमार भी मेरी तपस्या से प्रभावित हो गये हैं तो मुझे और क्या चाहिए ?

भगवान् पार्श्वनाथ ने हाथी पर बैठे हुए ही–उतरने से पहले ही जान लिया था कि यह तापस मेरे दस भव पहले का भाई है। मेरा यह भाई आज जिस स्थिति में है, अगर उसी स्थिति में रहा तो अपना परलोक बिगाड़ लेगा। जैसे भी संभव हो, इसका उद्धार करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि मैं इसका उद्धार करने चलूंगा तो इसके रोष और द्वेष का मुझे भाजन बनना पड़ेगा। इसे सहन करके भी उद्धार करना चाहिए। यह मेरा कर्त्तव्य है।

लोग कहते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कमठ का मान भंग किया था। मैं समझता हूँ कि ऐसा कहने वालों में मान है, इसी कारण वे ऐसा कहते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने जो कुछ भी किया था, वह तापस के प्रति भगवान् की प्रशान्त करुणा का ही परिणाम था। भगवान् के सरल मृदुल हृदय में तापस के प्रति असीम करुणा का भाव उत्पन्न हुआ और उसी

करुणा ने उन्हें तापस के उद्धार के लिए प्रेरित किया। यह यह बात अलग है कि तापस का अभिमान स्वतः चूर-चूर हो गया, मगर भगवान् की ऐसी कोई इच्छा नहीं थी कि तापस को नीचा दिखाया जाय। भगवान् ने तापस से कहा-'तुम यह क्या कर रहे हो? इस प्रकार के कष्ट में पड़कर अपने लिए नरक का निर्माण क्यों कर रहे हो? सरल बनो और ऐसे काम न करो, जिनसे तुम स्वयं कष्ट में पड़ो और दूसरे भी कष्ट पावें।'

यद्यपि अनन्त करुणा से प्रेरित होकर भगवान ने तापस से ऐसा कहा था मगर तापस कब मानने वाला था? उसने कहा—तुम राजकुमार हो। राजमहल में रहकर आनन्द करो। हम तपस्वियों की बातों में मत पड़ो। तुम इस विषय मे अभी कुछ नहीं समझते हो। तुम अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखो और घोड़े फिराओ। राजकुमार यही जानते हैं या उन्हें यही जानना चाहिए। हमारे किसी कार्य के औचित्य या अनौचित्य का निर्माण करना तुम्हारे अधिकार से बाहर है। तपस्वियों की बात तपस्वी ही समझ सकते हैं।

भगवान् ने कहा—अगर आप कुछ जानते होते तो कुछ कहने की आवश्यकता ही न रहती। लेकिन आप नहीं जानते हो, इसी कारण कहना पड़ा है कि आपने अभी तक सच्चा मार्ग नहीं जान पाया है। अगर मैं कुछ नहीं जानता और

आप सब कुछ जानते हैं तो बतलाइये कि आपकी धूनी मे जलनेवाली लकड़ी में क्या है ?

तापस—इसमें क्या है, अग्निदेव के सिवाय और क्या हो सकता है ! सूर्य, इन्द्र और अग्नि—यह तीनों देव हैं। धूनी की लकड़ी में अग्नि देव है।

भगवान् ने शान्त स्वर में कहा—धूनी में जलने वाली इस लकड़ी में अग्निदेव के सिवाय और कुछ नहीं है, यही आपका उत्तर है न ?

तापस—हाँ, हाँ, यही मेरा उत्तर है। उसमें और क्या रक्खा है ?

भगवान् बोले—इसी से कहता हूँ कि अभी तक आप कुछ भी नहीं जानते। आप जिस लकड़ी को धूनी मे जला रहे हैं, उस लकड़ी के भीतर हमारे आपके समान ही एक प्राणी जल रहा है।

तापस की आंखें लाल हो गई। वह तिलमिला कर बोला—झूठ ! एकदम झूठ ! तपस्वी पर ऐसा आरोप लगाना घोर पाप है !

भगवान्—हाथ कंगन को आरसी क्या ! आप झूठे हैं या मैं झूठा हूँ, इसका निर्णय तो अभी हुआ जाता है। लकड़ी चिरवा कर देखलो तो असलियत का पता लग जायगा।

तापस—ठीक है मुझे यह स्वीकार है।

लकड़ी चीरी गई तो उसमें से एक सांप निकला। वह अधजला हो चुका था। उस तड़फते हुए अधजले सांप को देखकर लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा और सांप के प्रति अतिशय करुणा जाग उठी। लोग कहने लगे-'धन्य है पार्श्वकुमार ! उनके विषय में जैसा सुनते थे, सचमुच वे उससे भी बढ़कर हैं।' बहुतेरे लोग उस तापस की निन्दा करने लगे। अपनी प्रतिष्ठा को इस तरह धक्का लगा देखकर तापस बेहद रुष्ट हुआ। वह सोचने लगा—राजकुमार की प्रशंसा हुई और मेरी निन्दा हुई !

भगवान् पार्श्वनाथ के हृदय में जैसी दया तापस के प्रति थी वैसी ही दया सांप के प्रति भी थी। भगवान् सांप का कल्याण करने के लिए हाथी से नीचे उतरे। साधारण लोग समझते हैं कि सांप क्या जाने ? लेकिन सांप जानता है या नहीं, इसका निर्णय तो भगवान् के समान ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं ! सर्वसाधारण के वश की यह बात नहीं है। जिस सांप को लोग अतिशय भयावह, विषैला और प्राणहारी समझते हैं, उसी के कल्याण के लिए करुणानिधान हाथी से नीचे उतरे। वह सांप अधजला हो गया था और उसके जीवन की कुछ ही घड़ियां शेष रह गई थीं। भगवान् ने उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाकर कहा—तुझे दूसरा कोई नहीं जला

सकता और तू यह मत समझ कि दूसरे ने तुझे जलाया है। अपनी आत्मा ही अपने को जलाने वाली है। इसलिए समता भाव रख। किसी पर द्वेष मत ला। किसी पर क्रोध मत कर। इसी में तेरा कल्याण है।

भगवान् ने उस सांप को किन शब्दों में उपदेश दिया होगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता और भगवान् की महिमा भी नहीं कही जा सकती। फिर भी अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका उपदेश इसी आशय का रहा होगा। प्रथम तो स्वयं भगवान् उपदेशक थे, दूसरे पंच नमस्कार मंत्र का उपदेश था। अतएव मरणासन्न सांप अग्नि का संताप भूल गया। उसकी परिणति चन्दन के समान शीतल हो गई। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बारम्बार भगवान् की ओर देखने लगा।

सांप की जो कथा आप सुन रहे हैं वह मनोरंजन के लिए नहीं है। उससे बहुत कुछ शिक्षा ली जा सकती है और शिक्षा लेने के लिए ही वह सुनाई गई है। क्या आप भगवान् पार्श्वनाथ को भजते हैं? अगर आप भगवान् को भजते हैं तो आपकी मनोवृत्ति ऐसी हो जानी चाहिए कि कोई कैसी ही आग में क्यों न जलावे, आप शीतल ही बने रहें। वास्तव में आग की ज्वाला में संताप नहीं है, संताप है क्रोध में। अगर आप अपनी वृत्ति में से क्रोध को नष्ट कर दें तो आपको किसी भी प्रकार की आग नहीं जला सकती। लेकिन

होता यह है कि लोग भगवान् पार्श्वनाथ का नाम जीभ से बोलकर आग को हाथ लगाते हैं और कहते हैं कि आग शीतल क्यों नहीं हुई ? वे यह नहीं देखते कि हम बाहर की आग को शान्त तो करना चाहते हैं मगर हृदय की आग—क्रोध-की शान्ति हुई है या नहीं ? अगर हृदय की आग शान्त नहीं हुई है तो बाहरी आग कैसे शीतल हो सकती है ? हृदय की आग को शान्त करके देखो तो सारा जगत शीतल दिखाई देगा।

ग्रंथों में कहा है कि भगवान के उपदेश के कारण वह सांप मर कर धरणेन्द्र देव हुआ। इस प्रकार भगवान् ने उस सांप का भी कल्याण किया। ऐसी बातों के कारण ही जगत में भगवान की महिमा का विस्तार हुआ है।

भगवान् ने सांप का कल्याण किया और कल्याण करने से भगवान् की महिमा का विस्तार हुआ; यह ठीक है। किन्तु इससे आपका क्या कल्याण हुआ ? आपको अपने कल्याण के विषय में विचार करना चाहिए। आपका कल्याण तभी संभव है जब आप भी भगवान् को अपने हृदय में बसावें और जलती हुई क्रोध की आग को क्षमा, शान्ति, समभाव आदि के जल से शान्त कर दें।

कहा जा सकता है कि अगर भगवान् पार्श्वनाथ हृदय में बस सकते हैं तो फिर बसते क्यों नहीं हैं ? क्या हम उन्हें बसने से रोकते हैं ? लेकिन सही बात यह है कि भगवान्

पार्श्वनाथ को हृदय में बसने देने से एक प्रकार से नहीं तो दूसरे प्रकार से रोका जाता है। अगर उनके बसने में रुकावट न डाली जाय तो वे बसने में विलंब ही न करें। अगर आप अपनी मनोवृत्तियों की चौकसी रखते हैं, अपनी भावनाओं की शुद्धि-अशुद्धि, उत्थान-पतन का विचार किया करते हैं तो यह बात समझने में आपको दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन आम तौर पर लोग सट्टा बाजार के भावों के चढ़ने-उतरने का जितना ध्यान रखते हैं, उतना भी आत्मा के भावों के चढ़ाव-उतार पर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि आत्मा के पतन की भी उन्हें खबर नहीं पड़ती। शास्त्र मे गुणस्थानों का विस्तृत वर्णन किस लिए आया है ? गुणस्थान आत्मा के उत्थान और पतन का हिसाब समझाने के लिए ही बतलाये गये हैं। अतएव देखना चाहिए कि किस प्रकार हमने अपने हृदय के द्वार भगवान् पार्श्वनाथ के आने के लिए बंद कर कर रक्खे हैं और उसका परिणाम क्या हो रहा है ? दूसरों के दुर्गुण देखने मे मत लगे रहो, अपने ही दुर्गुण देखो। दूसरों के दुर्गुण देखते रहने से अपने दुर्गुण दिखाई नहीं देते। अतएव अपने अवगुणों को देखो और सोचो कि हृदय में परमात्मा को बसाने मे कहां चूक हो रही है ? वास्तव में मनुष्य कहां चूकता है, यह बताने के लिए टालस्टाय द्वारा लिखित और गांधीजी द्वारा अनुवादित 'सच्चा श्रमजीवी' नामक पुस्तक में से कुछ अंश आपको सुनाता हूँ। उस पर से

आप समझ सकेंगे कि हमारी आत्मा कहां क्या भूल कर रही है।

'सच्चा श्रमजीवी' पुस्तक की जिस बात को मैं कह रहा हूँ, वह वहां किन्हीं दूसरे शब्दों में लिखी होगी। लेकिन उसका भाव यह है:—

एक आदमी के तीन लड़के थे और एक लड़की थी। उसके एक लड़के का नाम मूर्खराज था। वह शारीरिक श्रम करने वाला था।

दुनियां में दो प्रकार के मनुष्य हैं। एक वह जो शारीरिक श्रम करते हैं और दूसरे वे हैं जो केवल बुद्धि की खटपट से ही सब चीजें प्राप्त करके मौज उड़ाते हैं। मूर्खराज श्रमजीवी था

आप लोग जो कपड़े पहनते हैं, उन्हें आपने बुद्धि द्वारा प्राप्त किया है या श्रम द्वारा? आपने श्रम द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं किया है, बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया है। लोगों का कहना है कि बुद्धि द्वारा ज्यादा काम होता है और शारीरिक श्रम से कम। उन्हें बुद्धिवाद के कारण मचे हुए हाहाकार पर ध्यान देना चाहिए। संसार में श्रम की कीमत जितनी घटेगी और एकान्त बुद्धि की कीमत जितनी बढ़ेगी, उतना ही अधिक हाहाकार लोगों में बढ़ता जायगा।

मूर्खराज श्रमजीवी था। लोग उसे मूर्ख समझते थे, किन्तु वास्तव में वह मूर्ख था नहीं, यह तो उसी के कार्यों से समझा,

जा सकता है। संसार में श्रमजीवी मूर्ख समझे जाते हैं, मगर देखा जाय तो संसार का अमन चैन उन्हीं पर निर्भर है। बुद्धिजीवी लोगों को प्राण देने वाले श्रमजीवी ही हैं। 'अन्नं वै प्राणाः अर्थात् अन्न प्राण हैं,' इस उक्ति के अनुसार श्रमजीवी कृषक ही तो बुद्धिजीवी लोगों को अन्न रूप प्राण देते हैं।

मूर्खराज को किसी प्रकार-तीन बूटियां मिल गईं। उनमें यह गुण था कि उनमे से एक का सेवन करने से सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते थे। मूर्खराज के पेट में दर्द था, अतएव एक बूटी उसने खुद खा ली। उसने सोचा-अपने ऊपर प्रयोग करना ठीक भी होगा। इससे पता चल जायगा कि वास्तव में यह बूटी सब रोगों को नाश करने वाली है या नहीं? उसने बूटी खाई और उसके पेट का दर्द चला गया। बूटी की परीक्षा भी हो गई, मूर्खराज बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-बड़ी अच्छी चीज है।

मूर्खराज घर आया। उसने देखा—घर का कुत्ता पड़ा तड़फड़ा रहा है। कुत्ते मुँह से अपना दर्द नहीं बतला सकते। अतएव मूर्खराज की समझ में नहीं आया कि कुत्ते को क्या दर्द है? उसने सोचा—संभव है, कुत्ता भूखा हो और भूख का मारा ही तड़फ रहा हो। वह घर में से रोटी लाया। कुत्ते के सामने रख दी। मगर कुत्ते ने रोटी नहीं खाई। तब मूर्खराज ने विचार किया—इसे कोई दर्द मालूम होता है। मेरे

पास जो बूटी है, वह फिर क्या काम आएगी ? एक बूटी से मेरा दर्द गया है और दूसरी से इसका दर्द मिटा देना चाहिए।

क्या बुद्धिवादी लोग ऐसा करने को तैयार होंगे ? क्या कुत्ते के प्राणों की उनके आगे इतनी कीमत है कि ऐसी अनमोल बूटी देकर उसके प्राणों की रक्षा की जाय ? बुद्धिवादी ऐसा करना बूटी का अपव्यय समझेगा। मगर वह तो मूर्खराज जो ठहरा ? उसने एक बूटी रोटी में मिलाकर किसी तरह कुत्ते को खिला दी। थोड़ी देर में कुत्ता ठीक हो गया और पूंछ हिला कर प्रसन्नता प्रकट करने लगा।

जो मनुष्य कुत्ते को एक भी टुकड़ा डाल देता है, उसे कुत्ता भौंकता नहीं है। लेकिन मनुष्य क्या करता है ? लड्डू खिलाने वाले पर भी मनुष्य भौंकने से कब चूकता है ? लोग लड्डू खिलाने वाले के लड्डू भी खा जाते हैं और उस पर भौंकने भी लगते हैं। फिर भी मनुष्य के सामने कुत्ते के प्राणों की कोई कीमत ही नहीं है !

जब घर वालों ने देखा कि मूर्खराज ने कुत्ते को सहज ही ठीक कर दिया है तो वे कहने लगे—हम इसे मूर्ख समझते थे, मगर यह तो होशियार जान पड़ता है। इसने देखते-देखते कुत्ते को ठीक कर दिया ! एक ने उससे पूछा-क्या तुम्हें कुछ जादू आता है कि आनन-फानन कुत्ते को ठीक कर दिया ?

मूर्खराज ने बाकी बची बूटी दिखाकर कहा—मैं जादू नहीं जानता हूँ, पर मेरे पास यह बूटी है। इस बूटी की करामात से ही कुत्ता अच्छा हुआ है। इस बूटी से सब प्रकार के रोग मिट जाते हैं।

जो मूर्खराज अभी-अभी होशियार हो गया था, वही फिर अब बुद्धू बन गया। घर के लोग उससे कहने लगे-आखिर तो मूर्खराज ही ठहरा न! ऐसी अमृत सरीखी अनमोल बूटी कुत्ते को खिलाकर तू ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। भला, यह कुत्ता अच्छा होकर क्या करेगा? किसी दूसरे को अच्छा किया होता तो कुछ लाभ भी होता।

बुद्धिमान् कहलाने वाले अन्य लोग भी ऐसा ही सोचते होंगे। बेचारे कुत्ते पर कौन दया करना चाहता है? लेकिन किसी प्रकार की आशा से किसी का भला करना सच्ची करुणा नहीं है। निरीह भाव से-बदला पाने की आशा न रखते हुए दूसरों की भलाई करना ही वास्तव में करुणा है।

भगवान् पार्श्वनाथ को सांप से कुछ मिलना नहीं था। फिर भी करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने उसका उपकार किया ही था! करुणा किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रखती और जो लोभ में पड़ा है, उससे भेदभाव नहीं छूट सकता। अतएव करुणा करने के लिए 'मूर्खराज' सरीखा बनना पड़ता है।

मूर्खराज के माता-पिता भी जब उसकी अवहेलना करने लगे और कुत्ते को बूटी खिला देने के लिए उपालभ देने लगे तो उसने उत्तर दिया- आप लोगों के लिए वह कुत्ता है और मेरे लिए मेरे ही समान प्राणी है। अतएव उसके लिए मैं अपने प्राण भी दे सकता हूँ।

घर वाले खिन्न चित्त होकर कहने लगे—चलो, जो कुछ हुआ सो हुआ। अब एक बूटो बची है, वह किसी को मत देना।

मूर्खराज ने कहा—ठीक है, मैं इसे व्यर्थ नष्ट नहीं करूँगा।

संयोगवश उस शहर के बादशाह की लड़की बीमार हो गई। लड़की बादशाह और उसकी पत्नी को अत्यन्त प्रिय थी। इसलिए बादशाह ने ढिढोरा पिटवाया कि मेरी लड़की को जो अच्छा कर देगा उसे मैं मुँह माँगा इनाम दूँगा। बादशाह द्वारा पिटवाये गये ढिंढोरे को मूर्खराज के घर वालों ने भी सुना। उन्होंने मूर्खराज से कहा—बूटी की बदौलत अब तेरा भाग्य खुल जायगा। तेरे पास जो बूटी है, उसे बादशाह की लड़की को खिला दे। लड़की अच्छी हो जायगी तो उसके साथ तेरा विवाह हो जायगा। तू सुखी हो जायगा और तेरे साथ हम लोग भी सुखी हो जाएँगे।

मूर्खराज ने माता-पिता आदि की बात स्वीकार करते हुए कहा- ठीक है, मैं जाऊँगा।

माता-पिता आदि ने मूर्खराज को स्नान करवाया। अच्छे

कपड़े पहनने को दिये और बादशाह के पास जाने को रवाना किया। मूर्खराज बूटी अपने साथ लेकर बादशाह के महल की तरफ चल पड़ा। मार्ग में उसने देखा कि एक स्त्री को लकवा मार गया है, जिसके कारण वह चल फिर नहीं सकती। उसका हाथ बेकार हो गया है और मुँह टेढ़ा हो गया है। मूर्खराज ने उस स्त्री से पूछा—'मां जी! क्या हो गया है तुम्हें?'

स्त्री—बेटा, देख ले। मेरी कैसी बुरी हालत है! मेरा शरीर बेकार हो गया है। पेट पालने के लिए भी दूसरों की मोहताज हो गई हूँ। बड़ा कष्ट है!

मूर्खराज मन ही मन सोचने लगा—यह बूढ़ी मां इतने कष्ट में है। मेरे पास बूटी है। मैं इसका कष्ट मिटा सकता हूँ। यह बूटी किस काम आयगी? गरीबिनी बुढ़िया का कष्ट मिटा देना ही उचित है।

मूर्खराज ने बुढ़िया से कहा—ले मां जी! यह बूटी खा ले। तेरा रोग अभी चला जायगा।

बुढ़िया बोली—बेटा, मेरा रोग मिटा देगा तो मैं समझूंगी कि तू ही मेरे लिए ईश्वर है?

मूर्खराज—मैं ईश्वर नहीं हूं। मुझे यह बूटी कहीं मिल गई है। इसका दूसरा क्या उपयोग हो सकता है? तू इसे खा जा।

बुढ़िया ने बूटी खाई। वह चंगी हो गई। उसे सहसा अपना चंगापन देख विस्मय के साथ आनन्द हुआ। मूर्खराज को उसने सैंकड़ों आशीर्वाद दिये।

मूर्खराज संतोष के साथ अपने घर लौट आया। उसे आया देख घर वाले पूछने लगे—क्यों, बादशाह के पास नहीं गया? लौट क्यों आया?

मूर्खराज—मार्ग में मुझसे एक अच्छा काम हो गया, इसलिए लौट आया हूँ। घर वालों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पूछा-क्या हुआ, कुछ बता भी सही।

मूर्खराज ने बुढ़िया का वृत्तान्त कह सुनाया। घर वालों ने यह सुना तो क्रोध के मारे पागल हो उठे। कहने लगे-मूर्खराज कहीं के! तू ने हमारे सारे मंसूबे मिट्टी में मिला दिये!

भगवान् पार्श्वनाथ को तो आप भी पुकारते हैं, मगर किस लिए पुकारते हैं? आप उनके शिष्य कहलाते हैं, मगर क्या करने के लिए? पार्श्वनाथ के शिष्य कहला कर भी क्या आप में मूर्खराज सरीखी दया है? मूर्खराज की निस्पृह दया कितनी सराहनीय है? क्या आपका अन्तःकरण इस प्रकार की दया से जीवन में एक बार भी कभी द्रवित हुआ है? स्वयं में ऐसी दया होना तो दूर रहा, आपके घर का कोई आदमी इस मूर्खराज के समान कार्य करे तो आप उसे शायद घर से निकाल

देने के लिए तैयार हो जाएँ ! ऐसी स्थिति में आप भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा की गई दया का असली महत्त्व समझ सकते हैं ? अगर आप सचमुच ही दया का महत्त्व समझते हैं तो अछूतों को व्याख्यान सुनने देने से क्यों वंचित रखते हैं ? मैं आपके मकान में ठहरा हूँ । अतएव आपकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता । किसी को आने या न आने देने का मुझे अधिकार नहीं है । लेकिन इस विषय में आप क्या कहते हैं ? अगर हम आपके मकान में न ठहरे होते और प्राचीन काल के मुनियों की तरह जंगल में ठहरे होते तो हमारा व्याख्यान सभी लोग सुन सकते थे । यहां किसी के प्रति किसी प्रकार का भेदभाव का व्यवहार नहीं किया जा सकता था । भगवान् के समवसरण में बारह प्रकार की परिषद् होती थी । उसमे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था । अगर आपके अन्तःकरण में भगवान् पार्श्वनाथ के समान दया हो तो आप किसी भी जाति वालों को व्याख्यान सुनने से न रोकते ।

मूर्खराज के घर वाले क्रोध से बावले हो उठे । कहने लगे—यह मूर्ख कितना अभागा है ! पहले तो इसने कुत्ते को बूटी खिलादी और अब, जब कि सभी का भाग्य चमकने वाला था, किसी बुढ़िया को बूटी देकर चला आया । ऐसा न किया होता और बादशाह की लड़की की बीमारी मिटाई होती तो खुद बादशाह का दामाद बन गया होता और हम

लोगों को इस मकान के बदले राजमहल मिला होता ! हमारा घर धन से भर जाता और सब दुःख दूर हो गये होते।

मूर्खराज ने अपने घर वालों से कहा—आप लोग मुझे क्षमा कीजिये। मेरा नाम ही मूर्खराज है! मैं आप लोगों की बुद्धि के अनुसार काम कैसे कर सकता हूं ? आप मुझ से वृथा ही ऐसी बड़ी आशा क्यों रखते हैं ? मैं मूर्ख ठहरा। सामने किसी दुखी को देखता हूं तो अपने को रोक नहीं सकता। मेरे पास जो कुछ होता है, सभी देने को उद्यत हो जाता हूं और दे डालता हूं। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मैं क्या करूँ ?

मूर्खराज की सरल सीधी बात सुन कर संतान प्रेम के कारण माता-पिता आगे कुछ न कह सके। वे चुप हो रहे। सोचने लगे—इसका क्या दोष ? दोष अगर है तो हमारी तकदीर का ही।

मूर्खराज के हृदय में यह था कि जो भी दुखी सामने आवे, उसका दुःख दूर करने के लिए, अपने पास जो भी कुछ हो, दे देना चाहिए। मगर आपके हृदय में क्या है ? जरा अपने हृदय को टटोलो। आप भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य, हैं। आपके अन्तःकरण में दया का कैसा शीतल झरना बहना चाहिए ? भगवान् सांप सरीखे जहरीले प्राणी के लिए भी हाथी से नीचे उतरे। उन्होंने पास जाकर उसे उपदेश

का अमृत पिलाया। मगर आप दया-दया की पुकार करते हुए भी मान के हाथी पर ही सवार बने रहते हैं। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि आपने दया को पहचाना है? दया करने के लिए मूर्खराज के समान बनना पड़ता है। मूर्खराज को जैसी बूटी मिली थी, आपको वैसी मिल जाय तो आप उसे लेने को फौरन तैयार हो जाएँगे। और कदाचित् मूर्खराज मिल जाय तो कहने लगेंगे 'यह तो मूर्खराज है। हम इसे लेकर क्या करेंगे? आप मूर्खराज का अस्थि पंजर लो, यह मैं नहीं कहता। मैं कहता हूँ कि मूर्खराज के गुणों को ग्रहण करो। जिस प्रकार मूर्खराज निस्वार्थ और निष्पक्ष होकर दया करता था, उसी प्रकार आप भी दया करो।

खरगोश हाथी का क्या लगता था? हाथी को उसकी रक्षा करने से क्या मिलने वाला था? हाथी को खरगोश से कुछ भी आशा नहीं थी। फिर भी उसने घोर वेदना सहन करके भी खरगोश की रक्षा की थी! इसी तरह आप भी निष्काम भाव से दीन-दुखी पर दया करो। बुद्धि के चक्कर में मत पड़ो। दया करने के लिए 'मूर्खराज' के सदृश बनो। आप में मूर्खराज की सी आदत नहीं है, इसी कारण आप किसी के मरने के बाद तो उसकी याद कर-करके रोते हो परन्तु जब वह जीवित रहता है तब तक उसकी पूरी सम्हाल नहीं करते और उसे कल्याण के मार्ग पर नहीं लगाते।

यदि संसार में मूर्खराज के समान ही प्राणी जन्में, तो

दिन-रात दूसरे की दया करने में ही लगे रहें तो संसार सुखी हो सकता है। यह ध्रुव सत्य समझ लो कि ऐसे दयालु और परोपकारी मनुष्य ही संसार के शृंगार हैं। संसार में अगर कुछ सार है तो ऐसे मनुष्यों का जीवन ही है। ऐसे दयावान मनुष्य ही संसार में सुख और शान्ति का प्रसार करते हैं। मारकाट मचाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में संलग्न रहने वाले बुद्धिवादी लोग संसार को सुखमय नहीं बना सकते। मूर्खराज कपड़े पहन कर बादशाह की बेटी को बूटी देने चला था, मगर मार्ग में बीमार वृद्धा को देखते ही उसका दिल द्रवित हो गया और उसने उसे बूटी खिला दी। मूर्खराज का यह त्याग मामूली नहीं कहा जा सकता। उसे राजकुमारी पत्नी मिल सकती थी, कदाचित् राज्य का भी कुछ भाग मिल सकता था और कीर्ति तो मिलती ही पर उसने इन चीजों की तनिक भी परवाह नहीं की। सच्ची दया वही है जहां लेश मात्र भी स्वार्थ नहीं है। मगर बुद्धि की खटपट त्याग कर मूर्खराज के समान बनने पर ही ऐसी दया की जा सकती है।

ग्रन्थकारों ने हमारे सामने सच्चे दयालुओं के चरित्र इसी उद्देश्य से रक्खे हैं कि हम उन्हें सुन समझ कर यह जान सकें कि सच्ची दया किस प्रकार हो सकती है। संभव है आप किसी दयालु के चरित्र को पूरी तरह न अपना सकें, तथापि अगर और किसी रूप से अपनाएँगे तो भी आपका कल्याण

होगा। आत्मा में जो कर्म-रोग घुसे हैं, वे धन की अथवा राज्य की शक्ति से नष्ट नहीं किये जा सकते। उनका विनाश करने के लिये दया ही आपकी दया है। अतएव अपने हृदय मे दया को प्रकट करो। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा और साथ ही संसार का भी।

जो दृढ़ राखे धर्म को

श्री जिन अजित नमू जयकारी,
तू देवन को देवजी ॥ प्रार्थना ।

यह श्री अजितनाथ भगवान् की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह भाव प्रकट किये गये हैं कि—हे प्रभो! मेरे ऊपर तू ऐसी कृपा कर कि मैं तुझ पर एकनिष्ठा प्रीति रख सकूँ। तेरी कृपा के बिना मैं तेरे साथ एकनिष्ठा प्रीति नहीं रख सकता। क्योंकि तेरे साथ एकनिष्ठा प्रीति रखने में मेरे पूर्वकालीन संस्कार क्षण-क्षण में बाधा डालते हैं। मेरे पूर्व कालीन संस्कार मुझे तेरी ओर से बार-बार विमुख करने की प्रेरणा करते हैं। अगर मुझ पर तेरी कृपा हो तो मेरे संस्कार मुझे तेरी प्रीति से नहीं गिरा सकेंगे। इसलिए हे नाथ! मेरी प्रार्थना है कि तू मुझ पर ऐसी कृपा रख कि मेरे संस्कार मुझे तेरी ओर से विमुख न बना सकें। मैं जानता हूँ कि तुझ में ही ऐसी शक्ति है। तेरी कृपा के बिना मेरा उद्धार नहीं हो सकेगा।

परमात्मा से एकनिष्ठा प्रीति करने की इच्छा किसकी न होगी? सभी यह कहेंगे कि हम परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखना चाहते हैं। मगर हृदय की भावना को कौन जाने?

कोई जाने या न जाने, सब को चाहिए कि वचन और मन की विरूपता का त्याग करके—हृदय में विरोधी भाव न रखकर परमात्मा के साथ एकनिष्ठा प्रीति धारण करें। इस प्रकार का हार्दिक ध्येय होने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

संसार में सब की मति एक सी नहीं होती। कहावत है—'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।' अर्थात् सब की मति न्यारी-न्यारी होती है। लेकिन इस भिन्नता मे भी कहीं न कहीं एकता भी मिलती है। सूर्य संसार को प्रकाश दे रहा है, इस कथन में किसी का मतभेद नहीं हो सकता। इस प्रकार भिन्नता के साथ एकता भी रही हुई है। परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति करने में भी एकता होनी चाहिए। हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सब लोग इस विषय में एकमत हों और सभी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखें। ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ हो, ऐसा नहीं होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान अजितनाथ के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखने में एकमत हो जाने की जो बात आप कहते हैं, वह समस्त जगत् के लिए हैं या सिर्फ जैनों के लिए ? भगवान् अजितनाथ को सिर्फ जैन धर्म के अनुयायी ही मानते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि आपका कथन केवल जैनों के लिए ही है।

इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक विवेकवान पुरुष यही कहेगा कि भगवान् अजितनाथ सारे जगत् के हैं। वे किसी

वर्ग विशेष के नहीं, किसी खास जाति के नहीं हैं। अजित उसे कहते हैं जो किसी से हारा न हो, किन्तु जिसने सब को जीत लिया हो। तात्पर्य यह है कि जिसने राग-द्वेष आदि समस्त विकारों को जीत लिया है, जो निर्विकार, निर्लेप, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द रूप बन गया हो, परम पुरुषोत्तम 'अजित' कहलाता है। यह व्याख्या जिसमें भली भांति घटती है उसे कौन अपना परमाराध्य देव स्वीकार नहीं करेगा? ऐसे महान् आत्मा के समक्ष किसका सिर श्रद्धा-भक्ति के साथ विनत नहीं हो जायगा? कौन ऐसे परमात्मा की शरण लेने में संकोच करेगा? जो आत्मा को स्वीकार करता है, आत्मा को नित्य मानता है, आत्मा के परम विकास में श्रद्धा रखता है, वह आत्मशुद्धि के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण स्वरूप भगवान् अजितनाथ को अपना देव क्यों नहीं स्वीकार करेगा? अगर कोई पक्षपात में पड़ा है तो समझना चाहिए कि उसने धर्म के मर्म को नहीं जाना है। तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं हो पाई है। ऐसी स्थिति में, मैंने एकमत होने की जो बात कही है, वह सिर्फ जैनों के लिए नहीं वरन सारे जगत् के लिए कही है। अतएव भगवान् अजितनाथ की शरण जाना ही सब के लिए उचित है। आन्तरिक शत्रुओं को जीतने के लिए भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना करने की आवश्यकता है। जो अपने आन्तरिक शत्रुओं को बढ़ाना चाहता है उसके लिए तो क्या कहा जा सकता है? मगर जो शत्रुओं को जीत कर अनंत

और अक्षय विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् अजित-नाथ की शरण ग्रहण करना ही चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—भगवान् अजितनाथ की शरण लेने से आन्तरिक शत्रु नष्ट हो जाते हैं, किन्तु कर्मों का नाश होना क्या संभव ही है? शास्त्र में तो स्पष्ट कहा है—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—भोगे बिना किये गये कर्मों का नाश नहीं हो सकता। इस प्रकार जब किये कर्म भोगने ही पड़ते हैं तो भगवान् की शरण लेने से क्या लाभ है? अगर विना भोगे ही कर्मों का नाश हो जाता है तो शास्त्र के कथन में बाधा आती है। इस प्रकार इस प्रश्न का समाधान क्या है?

इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में, संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि कर्म के भोगने के दो मार्ग हैं। उदय के मार्ग से भी कर्म भोगे जा सकते हैं और क्षय के मार्ग से भी भोगे जा सकते हैं। भगवान् अजितनाथ की शरण लेने पर भी कर्म भोगने तो पडते ही हैं, किन्तु उदय के मार्ग से नहीं, किन्तु क्षय के मार्ग से भोगने पड़ते हैं। उदय-मार्ग की अपेक्षा क्षय-मार्ग छोटा है। इस प्रकार भगवान् अजितनाथ की शरण लेने से भी कर्मों का नाश होता है। डाक्टर वही है जो रोग मिटाता है—जो शरीर के रोग के परमाणुओं को अलग करता है। ऐसा करने वाला ही

डाक्टर माना जाता है। मगर डाक्टर बेचारा शारीरिक रोग ही दूर कर सकता है। आध्यात्मिक रोग मिटाना उसके सामर्थ्य से परे है। आत्मा के रोग केवल परमात्मा ही मिटा सकता है। और जो आत्मा के रोग मिटाता है वही परमात्मा है। परमात्मा की शरण लिये बिना आत्मा के कर्म रोग नहीं मिट सकते। अतएव परमात्मा की शरण जाना चाहिए। अगर आपको पूर्ण रूप से नीरोग होना है तो परमात्मा की शरण अनन्य भाव से ग्रहण करो।

संसार में शायद ही कोई व्यक्ति मिले जो अपनी आत्मा को पापमय बनाये रखना चाहता हो। सभी अपने पापों को नष्ट करना चाहते हैं। मगर किस मार्ग से पाप नष्ट हो सकते हैं यह विचार बहुत लम्बा है। तथापि, ज्ञानी-जनों के अनुभव के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि पाप नष्ट करने का सरल मार्ग परमात्मा का आश्रय लेना ही है। अतएव जिसके अन्तःकरण में पापों को नष्ट करने की प्रबल इच्छा जागी हो, उसे परमात्मा का सहारा लेना चाहिए। यह मार्ग इतना सरल है कि विज्ञ और अज्ञ सभी समान रूप से इसे अपना सकते हैं। मित्रो! परमात्मा की शरण समस्त भव-रोगों की अमोघ औषधि है। इसका सेवन करो और कल्याण के भागी बनो। ज्ञानियों का यह अनुभूत-मार्ग है। इसमें संशय के लिए कोई स्थान नहीं है।

दुःख नष्ट करने के लिए परमात्मा की शरण में जाने के उपाय ज्ञानियों ने अनेक प्रकार के बतलाये हैं। अनेक मार्गों से परमात्मा की शरण में जाया जा सकता है। जैसे एक ही नगर में पहुंचने के अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा की शरण में जाने के भी अनेक मार्ग हैं। फिर भी किसी अच्छे जानकार द्वारा बताये हुए किसी मार्ग को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेने से आराम के साथ नगर में पहुंच सकते हैं, इसी प्रकार परमात्मा की शरण में पहुंचने के ज्ञानियों ने जो अनेक मार्ग बतलाये हैं, उनमें से किसी भी एक मार्ग को पकड़ लेने पर परमात्मा की शरण में पहुंचा जा सकता है। शर्त यही है कि जो भी मार्ग पकड़ा जाय वह दृढ़तापूर्वक पकड़ा जाना चाहिए और वह मार्ग ज्ञानियों द्वारा बतलाया हुआ होना चाहिए।

जब परमात्मा की शरण में पहुंचने के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं तो सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि हमें उनमें से किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए? हमारे लिए कौन सा मार्ग सरल और सुविधा-जनक होगा? इस सम्बन्ध में कोई भी निश्चय करने के लिए हम सबको एकमत होजाना चाहिए। एकमत होकर ही किसी मार्ग का निश्चय करना उचित है। शास्त्रकार परमात्मा की शरण में पहुंचने के लिए एक मार्ग का विशेष रूप से सूचना करते हैं। उनका कथन है कि अवसर को समझो और जो अवसर आया है उसे मत खोओ। हाथ आये अवसर का खो देना बड़ी मूर्खता है।

किस प्रकार अवसर को जानना चाहिए और किस प्रकार इसका सदुपयोग कर लेना चाहिए, इस विषय में आचारांगसूत्र में एक कल्पना की गई है। उसमें कहा गया है—मानो किसी कारागार में कुछ ऐसे कैदी आये, जिनके मुक्त होने की कोई अवधि नहीं थी। जेलर ने उनसे कह रक्खा था—अगर कुदरत ही तुम्हारी किसी प्रकार सहायता करे तो तुम्हें छुटकारा मिल सकता है। अन्यथा छुटकारा पाने का और कोई उपाय नहीं है।

बेचारे उदास और निराश कैदी जेलखाने में पड़े थे। संयोगवश एक रात्रि में मूसलाधार पानी बरसा। पुरानी दीवाल गिर पड़ी। इसी समय बिजली चमकी। एक कैदी ने बिजली के प्रकाश में देखा कि जेल की दीवार टूट गिर पड़ी है और जेल से निकल भागने का यही उत्तम अवसर है। मानो, कुदरत ने हमारी सहायता की है। अब विलम्ब करना उचित नहीं। जेल से निकल कर भाग जाना ही श्रेयस्कर है। उसने अपने साथियों से कहा—यह अपूर्व अवसर है। जेल से भाग निकलो।

पहले कैदी की बात सुनकर उसके एक साथी ने कहा—यार! आधी रात का समय है। पानी बरस रहा है। ठंडी हवा के कारण मीठी-मीठी नींद आ रही है। जेल से निकल भागने के बाद फिर कब यहां आना होगा। अतएव एक बार जरा मजे की नींद सो लेने दो।

कल्पना कीजिए, ऐसा कह कर वह कैदी नींद में मस्त हो जाय और उसके सब साथी निकल कर भाग जाएं तो असावधान किसे समझा जायगा ? और सावधान किसे माना जायगा ?

संसार भी एक प्रकार का कारागार है। इसमें मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, यह सुअवसर मिला है। ज्ञानी कहते हैं—संसार-कारागार से निकलने का यही उत्तम अवसर है। इस अवसर का उपयोग करो और इस जेलखाने से निकल जाओ। ज्ञानियों के इस प्रकार सावधान करने पर भी अगर कोई ऊंघता रहता है तो ज्ञानी-जन क्या कर सकते हैं ?

आप में से कई सोचते होंगे कि अवसर मिला है तो क्या हमें साधु हो जाना चाहिए ? अगर नहीं, तो फिर अवसर से लाभ उठाने का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अगर आप में साधु बनने की क्षमता हो तो साधु हो जाना उत्तम ही है। अगर इतनी क्षमता न हो तो सत्कर्म में लग जाना भी इस अवसर को साधना है। इस अवसर को साधने के लिए परमात्मा की शरण में जाओ और संसार कारागार के कष्टों से बचो।

संसार वही कहलाता है जिसमें कर्म के आधीन होकर जीव परिभ्रमण करते हैं। यह परिभ्रमण कारण से ही होता है—बिना कारण नहीं। परिभ्रमण के कारणों की खोज ज्ञानियों ने की है। वे इस परिणाम

पर पहुंचे हैं कि राग और द्वेष के कारण ही जीव को परिभ्रमण करना पड़ता है। राग और द्वेष हमारे द्वारा ही उपार्जन किये गये हैं और हम ही उनका फल भोगते हैं। ऐसी अवस्था में परमात्मा को बीच में घसीटने की क्या आवश्यकता है ? हमारे किये राग-द्वेष के विषय में परमात्मा क्या कर सकता है ?

इसका सरल और संक्षिप्त उत्तर यह है कि परमात्मा की शरण में जाने से राग-द्वेष मिट जाते हैं, अतएव परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। यह सही है कि राग और द्वेष आत्मा के किये हुए हैं, फिर भी उनका विनाश किया जा सकता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि राग-द्वेष आत्मा के किये हुए हैं, इसी कारण आत्मा उनका अन्त भी कर सकता है। अगर राग-द्वेष का अभाव सम्भव न होता तो परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता ही नहीं थी। राग-द्वेष का नाश हो सकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि उनमें न्यूनाधिकता होती है। जो वस्तु न्यून और अधिक होती है वह कभी मिट भी सकती है। जो वस्तु कभी न्यूनाधिक नहीं होती वह तो नहीं मिट सकती, पर न्यूनाधिक होने वाली का विनाश भी देखा जाता है। इस प्रकार राग और द्वेष का विनाश होना सम्भव है और इसी निमित्त से परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। जैन-शास्त्र राग-द्वेष को विनष्ट करने के लिए ही परमात्मा की शरण लेने का विधान करता है। अन्यान्य ग्रन्थ भी इसी बात को कहते हैं। जैसे वैदिक साहित्य में कहा है--

द्वे द्वे हवह कर्मणी वेदितव्ये पापस्यैको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति ।
तद्दीप्च्छ स्वकर्माणि सुकृतानि कर्तुंहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते ॥

इस श्रुति का आशय यह है कि—हे शिष्य ! जागृत हो। सोता मत रह। तुझे अवसर मिला है। सुकृत कर ले। पुण्यकर्म यानी श्वेत-कर्म कर। इसी के लिए तुझे अवसर मिला है। तेरी आत्मा में करने की शक्ति तो है, लेकिन यह सोच कि उस शक्ति से क्या करना चाहिए ? काले कर्म करना चाहिए या श्वेत-कर्म करना चाहिए ? इस बात को सोचकर जागृत होना।

आत्मा में कर्तृत्व शक्ति विद्यमान है। वह दोनों प्रकार के काम कर सकती है। अच्छे काम भी उससे हो सकते हैं और बुरे काम भी हो सकते हैं। आपको दो हाथ मिले हैं। इन हाथों से दुखी को आश्वासन भी दिया जा सकता है और किसी को थप्पड़ भी मारी जा सकती है। इस प्रकार शक्ति तो दोनों प्रकार की है, मगर सोचना यह चाहिए कि हमारा हित क्या करने में है ? इस विवेक में ही मनुष्य की उत्कृष्टता छिपी है। डाक्टर जब आपरेशन करता है तो मन को एकाग्र कर लेता है। इसी प्रकार आपके लिए भी मन को एकाग्र कर श्वेत-कर्म करने की आवश्यकता है। हाथ से आपरेशन भी किया जाता है और छुरा भी मारा जाता है। लेकिन करने योग्य क्या है और न करने योग्य क्या है ? अकबर ने कहा है कि मजहबी झगड़े त्यागकर एक बात सीख लो कि इन हाथों से क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए ?

यूं कर यूं कर यूं न कर, यू करिया यूं होय ।
कहत अकब्बर बादशाह, जीत न सकता कोय ॥

अर्थात्—हाथ से दूसरे को आश्वासन दे, सन्तोष दे और दान दे। किसी को थप्पड़ मत मार। अगर थप्पड़ मारेगा या दूसरे के गले पर हाथ चलायेगा तुझे ऐसा ही फल भुगतना पड़ेगा। तुझे जो शक्ति मिली है उसका सदुपयोग कर। दुरुपयोग मत कर। जो अपनी शक्ति का लाभ दूसरे को नहीं देता वह संसार मे आदर नहीं पाता। सूर्य अगर दूसरों को प्रकाश न दे तो उसे कौन सूर्य कहेगा ? कौन उसका आदर करेगा ? इसी प्रकार आप अपनी शक्ति का लाभ दूसरों को नहीं पहुंचाते तो किस प्रकार आपकी प्रशंसा हो सकती है ?

बिजली का प्रकाश प्राप्त करने के लिए आपको पैसे देने पड़ते हैं। लेकिन सूर्य का प्रकाश बिना मूल्य चुकाये ही मिल जाता है ? पैसे न चुकाने पर बिजली का प्रकाश बन्द हो जाता है मगर सूर्य का प्रकाश पैसे न देने पर भी बन्द नहीं होता । आप सूर्य के प्रकाश का उपयोग करते हैं और बदले मे पैसे नहीं देते। फिर भी उस प्रकाश का बदला किसी रूप में तो चुकाना ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूँ कि आपको थोडी या अधिक जितनी भी शक्ति प्राप्त है, उसका उपयोग दूसरे के हित में भी करो। दूसरों का लेकर ही मत बैठे रहो। दूसरों से लेते हो दूसरों को देना भी सीखो। अकबर ने कहा है कि तुझे हाथ मिले हैं तो उनसे दान दे। किसी गिरते को बचाने का प्रयत्न कर। अगर

इतना भी नहीं कर सकते तो मुख से मीठे बोल ही बोल। कम से कम मीठे वचनों से तो दूसरों को सन्तुष्ट कर! कहावत है —

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजे चहुं ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर

अगर आप दूसरों को और कुछ नहीं दे सकते तो इतना तो दे ही सकते हैं। जहां मीठे वचनों का प्रयोग किया जाता है वहां पारस्परिक व्यवहार में मधुरता आ जाती है और पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन भी माधुर्यमय बन जाता है। जहां भाई, बहन, पति, पत्नी आदि मीठे वचन बोलकर एक दूसरे का सत्कार करते हैं, वह घर स्वर्ग बन जाता है। मीठे वचन खराब चीज़ को भी अच्छी बना देते हैं और कटुक वचन अच्छी चीज को भी बुरी बना देते हैं। कल्पना कीजिये- आपके आगे किसी ने अच्छे अच्छे भोजन परोसे और उन्हें खाने के लिए आपसे अनुरोध किया। आप भूखे भी हैं और भोजन करना चाहते हैं। इस स्थिति में अगर भोजन कराने वाला कह देता है— 'खाइए, ऐसा उत्तम भोजन तो तुम्हें बाप के राज्य में भी नहीं मिला होगा!' तो वह उत्तम और स्वादिष्ट भोजन आपके लिए कैसा हो जायगा? ऐसा भोजन आपके लिए विष के समान प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि भोजन निकृष्ट श्रेणी का हो मगर खिलाने वाला नम्रतापूर्वक

हाथ जोड़कर कहने लगे—'मेरे घर जैसा-तैसा भोजन करना स्वीकार करके आपने बड़ा अनुग्रह किया है, इस खराब अन्न को भी आप मेरे स्नेह की मधुरता से रुचिकर बना लीजिये।' इस प्रकार मधुर वचनों के साथ मिला हुआ साधारण भोजन भी आपको प्रिय लगेगा। यद्यपि पहला भोजन दूसरे भोजन की अपेक्षा अधिक उत्तम है फिर भी आपके लिए वह विष सरीखा क्यों लगता है? और दूसरा भोजन निकृष्ट होने पर भी प्रीतिजनक क्यों मालूम होता है? इसका एक मात्र कारण वचनों में अन्तर है। एक जगह वचन की मधुरता से भोजन मधुर हो गया और दूसरी जगह वचन की कटुकता के कारण भोजन कटुक हो गया।

आप और कुछ नहीं दे सकते तो मीठे वचन तो दे सकते हैं। मीठे वचनों के लिए कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती। मीठे वचन बोलने में कोई विशिष्ट श्रम या कठिनाई भी नहीं होती। वे सबके लिए सर्वत्र सुलभ हैं। कहावत है—'वचने का दरिद्रता'? अर्थात्—मीठे वचन बोलने में काहे की कंजूसी! ऐसी सस्ती, सुलभ और उपयोगी वस्तु का भी आप उपयोग न करें तो कितने विषाद की बात है! जब कोई अकिंचन दीन भिखारी आपके घर भीख मांगने आता है तो आप उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं? उसे अपशब्दों का दान तो नहीं देते? गरीब बेचारा बड़ी आशा बांधकर आपके द्वार पर

आता है और अतिशय दीनता के साथ आपके आगे हाथ पसारता है। क्या इसलिए कि आप उसे डांट-फटकार कर भगा दें? 'चल वे चल, मेरे यहां क्या तेरे बाप का खजाना गड़ा है!' इत्यादि शब्द कहकर तो आप उसका सत्कार नहीं करते ?

भारतवर्ष अपनी अनेक विशिष्टताओं में अतिथि-सत्कार की विशिष्टता के लिए भी प्रख्यात था। किसी समय भारत में असाधारण अतिथि-सत्कार होता था। उपनिषदों में 'अतिथि-देवो भव' का कितना सुन्दर विधान किया गया है। नीतिकार भी कहते हैं—

सर्वेषामभ्यागतो गुरुः।

अर्थात—घर पर आया हुआ अतिथि सब से बड़ा माना जाता है। इन सब साहित्यिक विधानों का प्रभाव भारतीय जीवन पर बहुत गहरा पड़ा था। 'घर आया-मां का जाया' अर्थात जो हमारे द्वार पर आया है, वह चाहे कोई क्यों न हो, हमारा भाई है, इस प्रकार की लोकोक्तियां उस प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारतीय इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि कई बार विदेशी धूर्त लोगों ने भारतीयों की अतिथि-सत्कार की परम्परा से अनुचित लाभ उठाया था, फिर भी भारतीयों ने अपनी प्रकृष्ट परम्परा का परित्याग नहीं किया था।

लेकिन आज क्या स्थिति है? आज भारतीय जीवन की क्रमशः

अधोगति होती जा रही है। भारत धीरे धीरे अपनी सुन्दर परम्पराओं का परित्याग करता जा रहा है। आज 'आओ, आओ' के स्थान पर 'जाओ जाओ' हो गया है। किसी को गिराने के लिए तो बहुत लोग तैयार हो जाते हैं मगर गिरे हुए को उठानेवाले बिरले ही मिलते हैं। लोग काम तो करते हैं मगर इस तरह नहीं करते कि जिससे किसी का सुधार हो और लोगों को धर्म की सहायता मिले। उदाहरण के लिए—यहां अशुचि साफ करने के लिए तो भंगी को आने दिया गया था मगर यदि वह मर्यादा से बैठकर व्याख्यान सुनने के लिए आना चाहे तो उसे नहीं आने दिया जायगा! यह 'जाओ जाओ' नहीं तो क्या है? मैं उचित और न्याय-संगत मर्यादाओं को भंग कर देने के लिए नहीं कहता। सिर की जगह सिर और पैर की जगह पैर तो रहेगा ही, मगर ऐसा व्यवहार करना भी उचित नहीं कि जिससे सिर और पैर में बहुत दूरी पड़ जाय! कम से कम मीठे वचन बोलकर तो सब को सन्तोष दिया जाना चाहिए।

पूर्व समय में प्रत्येक व्यक्ति से मीठे शब्द कहे जाते थे, चाहे वह कितना ही नीच श्रेणी का क्यों न माना जाता हो। जब मैं छोटा था तो भंगिन, धोबिन, नाइन आदि को भी काकी, मां आदि कहता था और उस समय ऐसा ही कहने की पद्धति थी। लेकिन आजकल इन सब का तिरस्कार किया

जाता है। अवसर का विचार न करना और एकदम उनका तिरस्कार करना भारत के लिए बहुत हानिप्रद सिद्ध हुआ है। जिस कमी के कारण उन लोगों का तिरस्कार किया जाता है, उस कमी को दूर करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। इस दशा में प्रयत्न किया गया होता तो उनमें वह कमियां रह ही नहीं पातीं। बहुत अर्से के बाद गांधीजी ने इस ओर ध्यान दिया है। उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह सभी को मालूम है। मैंने पोर बन्दर में गांधीजी का जन्म स्थान देखा है। कभी कभी मैं सोचने लगता हूं कि उस अन्धेरे कमरे में जन्म लेने वाले गांधीजी ने जगत् में अहिंसा का कैसा प्रचार किया है! मेरी दृष्टि में उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने संसार को अहिंसा का महत्व समझाया है और अपने कार्यों द्वारा अहिंसा का प्रताप सिद्ध कर दिया है। जिस विकराल काल में सारा संसार हिंसा पर भरोसा रखकर मारकाट की तैयारी मे लगा हुआ हो और प्रत्येक राष्ट्र में अधिक से अधिक हिंसक शक्ति का संचय करने की प्रतिस्पर्द्धा हो रही हो, उस समय में अहिंसा के सहारे ही अपने देश की स्वाधीनता के लिए संग्राम करना और अहिंसा का प्रताप बतलाना क्या साधारण बात है? फिर हिंसा मिटानेवाले ऐसे अहिंसापरायण पुरुष की अहिंसा की बात पर ध्यान देना उचित नहीं है ?

अहिंसा मानने वाले तो आप भी हैं। लेकिन अहिंसा

जीवित होनी चाहिए। मुर्दा अहिंसा से कोई लाभ नहीं होता। अहिंसा ऐसी सक्रिय होनी चाहिए जो हिंसा का प्रबल विरोध करे। अगर हिंसा न करना ही अहिंसा मान लिया जाय अर्थात् हिंसा के अभाव को ही अहिंसा समझ लिया जाय तो अहिंसा का महत्व ही नष्ट हो जायगा। वास्तव में, अहिंसा वह है जो हिंसा का विरोध करे। जैसे सूर्य वही है जो अन्धकार का विरोध करता है, दवा वही है जो व्याधि का विरोध करे, इसी प्रकार अहिंसा वही है जो हिंसा का विरोध करे। गांधी जी ने अहिंसा का यह क्रियात्मक रूप किस प्रकार सिद्ध किया है और किस प्रकार हिंसा की शक्ति का विरोध अहिंसा की शक्ति द्वारा किया है, यह अध्ययन करने योग्य है। उनका अहिंसा को क्रियात्मक रूप देने का कार्य किसे अच्छा नहीं लगेगा ? और जब वह सभी के लिए अच्छा है तो उनकी बात पर ध्यान देना उचित है या नहीं ?

आपको जन्मकाल से ही अहिंसा के संस्कार मिले हैं। अतएव आपके ऊपर विशेष उत्तरदायित्व है। आपको सोचना चाहिए कि अहिंसक के वस्त्र और अहिंसक का भोजन कैसा हुआ करता है ? लाख रुपये आपके सामने रखकर कोई कहे कि यह रुपये ले लो और एक बकरे को मार डालो। तो आप बकरा मारने के लिए तैयार नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष में तो आप इस प्रकार हिंसा का विचार रखते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष

रूप से किस-किस तरह की हिंसा में शामिल हो जाते हैं या सहायता करते हैं, यह भी देखना-सोचना चाहिए। बात यह है कि आप अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा में सहायता करने मे अभ्यस्त हो गये हैं। इसी कारण उस ओर आपका ध्यान नहीं जाता है और आप उस हिंसा का विरोध नहीं करते हैं। इस बात को दृष्टि में रखकर ही मानों वेद की पूर्वोक्त श्रुति मे यह कहा गया है कि सुकृत करने की इच्छा कर। हे आत्मन्! अगर तुझमें पाप हैं तो भी घबरा मत, किन्तु सुकृत करने की इच्छा कर। तेरे भीतर अगर पापराशि है तो पुण्यराशि भी है। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जो एकान्त पुण्यशाली या एकान्त पापात्मा हो। सर्वार्थसिद्धि विमान का आयुष्य बांधने वाले में भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म रूप पाप होता ही है। इसी प्रकार नरक के प्राणियों मे भी किसी न किसी रूप में पुण्य विद्यमान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक संसारी आत्मा में पुण्य और पाप का अस्तित्व रहता है।

आत्मा में पुण्य और पाप दोनों हैं, फिर भी वेद का कथन है कि हे पापराशि वाले आत्मा, तू सुकृत करने की इच्छा कर। इस प्रकार जिस आत्मा मे पुण्य विद्यमान है, उसे भी पापराशि वाला कहकर संबोधित किया गया है। मेरी समझ में इस कथन का कारण यह है कि यद्यपि संसार में सभी लोग पुण्यात्मा कहलाना चाहते हैं, सभी पुण्यमय बनना चाहते हैं, लेकिन कोई कैसा ही पुण्यात्मा क्यों न हो, उसमें भी

किसी न किसी रूप में पाप होता ही है। इसी कारण यह कहा गया है कि हे पापराशि वाले आत्मा ! तू सुकृत करने की इच्छा कर। अर्थात् इसी दृष्टिकोण से आत्मा को पापराशि वाला कहा गया है। थोड़ा बहुत रोग जिसमें होता है, उसे भी रोगी कहा जाता है। यद्यपि उसमें रोग थोड़ा और अरोग बहुत है, फिर भी वह रोगी कहलाता है और वह स्वयं भी अपने को रोगी मानता है। जब वह स्वयं को रोगी मानता है तभी औषध लेने की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार थोड़े से पाप के कारण भी जो अपने को पापी मानता है, वही सुकृत करने के लिए तैयार हो सकता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि हे पापराशि वाले आत्मा ! तू सुकृत करने की इच्छा कर। तू अपनी अन्तरात्मा में ऐसा प्रकाश उत्पन्न कर जिससे किंचित् भी पाप न रहने पावे। इस प्रकार का प्रकाश मनुष्य जन्म में जैसा उत्पन्न किया जा सकता है, वैसा किसी दूसरे जन्म में नहीं। इसी कारण मनुष्य जन्म, देव जन्म से भी उत्तम माना गया है। देव जो कार्य नहीं कर सकता, उसे मनुष्य कर सकता है। यद्यपि भोगोपभोग की सामग्री जैसी देवों को प्राप्त होती है, वैसी मनुष्यों को नहीं प्राप्त हो सकती, फिर भी मनुष्य को बड़ा कहने का कारण यही है कि आत्मा अपने पापों को क्षीण करने का जैसा प्रयत्न मनुष्य भव में कर सकता है, वैसा प्रयत्न देवगति में नहीं कर सकता।

है। ऐसे प्रसंग पर मैं न आता तो मेरी माता को भी कलंक लगता।

युधिष्ठिर- आपका कहना यथार्थ है। आपको ऐसा ही विचार रखना चाहिए।

युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाकर कहा— देखो, यह रुक्म आये हैं। तुम इनका सत्कार करो और इनके साथ जो सेना है उसका भी उचित सत्कार करो।

यह सुनकर रुक्म ने कहा— मैं आया तो हूँ पर स्वागत सत्कार करने से पहले एक बात का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

युधिष्ठिर- अगर कोई बात स्पष्टीकरण करने योग्य हो तो अवश्य ही उसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

रुक्म— मेरे हाथ में यह जो धनुष है, इसका नाम विजय है। संसार में तीन ही धनुष प्रसिद्ध हैं— सारंग, गांडीव और विजय। सारंग कृष्ण के पास है, गांडीव अर्जुन के पास है और यह विजय मेरे पास है। इन तीन में से सारंग तो आपके काम नहीं आ सकता, क्योंकि कृष्ण ने निरस्त्र रहने का निर्णय किया है। इस प्रकार अकेला गांडीव आपके पक्ष में रह गया है। मगर गांडीव, इस विजय की समानता नहीं कर सकता। यह विजय धनुष अकेला ही सम्पूर्ण कौरव-सेना पर विजय प्राप्त कर सकता है। कौरवों पर विजय पाने के लिए आपमें से किसी को भी कष्ट नहीं

उठाना पड़ेगा । इस विजय की सहायता से मैं अकेला ही आपको विजयी बना सकता हूँ । परन्तु एक बात का खुलासा हो जाना चाहिए । इसके लिए आप अर्जुन को बुलवाइये ।

रुक्म के कहने से युधिष्ठिर ने अर्जुन को बुलवाया । रुक्म ने अर्जुन से कहा—यदि आप मेरे कथनानुसार एक कार्य करें तो मैं अपना समस्त बल आपको दे सकता हूँ । क्या आप मेरा कहा कार्य करेंगे ?

अर्जुन—पहिले कार्य बतलाइए तो समझ कर उत्तर दूंगा । बिना कार्य को समझे, करने की हां नहीं भर सकता । कार्य सुनने के बाद ही किसी प्रकार की प्रतिज्ञा की जा सकती है ।

रुक्म—कार्य यही है कि तुम मेरे पैर पर हाथ रखकर यह कह दो कि—"मैं भयभीत हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ । मेरी रक्षा करो ।" बस, इतना करने से मेरा समस्त बल तुम्हारे पक्ष में हो जायगा ।

भीम उस समय वहीं मौजूद थे । रुक्म की बात सुनकर भीम के नेत्र लाल हो गये । मगर युधिष्ठिर ने उसे रोक कर रुक्म से कहा—आप अभी आये हैं थोड़ी देर विश्राम कीजिये । इस संबंध में फिर विचार करेंगे ।

रुक्म—ऐसा नहीं होगा । इसका निर्णय तो शीघ्र हो जाना चाहिए । बोलो अर्जुन, तुम क्या कहते हो ?

अर्जुन—मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार का विचार आपके हृदय में कैसे उत्पन्न हुआ। मैं ने कृष्ण के चरणों को हाथ लगाया है और मेरी यह प्रतिज्ञा है कि कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे के चरण को हाथ नहीं लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त आप मुझ से कहलाना चाहते हैं कि मै भयभीत हूँ। मगर मैं भयभीत कब हुआ हूँ ? जिस अर्जुन ने समस्त कौरव-सेना को परास्त करके भी विजय का श्रेय उत्तर को दिया, वह अर्जुन भयभीत होकर आपकी शरण मे आवे, यह संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त आपके लिए भी यह शोभनीय नहीं है कि आप स्वयं किसी को शरण में बुलावें। मैं ने सिर्फ कृष्ण की शरण ली है। दूसरे किसी की शरण न ली है और न ले ही सकता हूँ। आप आये हैं तो मित्र की भाँति आनन्दपूर्वक रहिये, किन्तु यह आशा न रखिये कि अर्जुन आपकी शरण में आएगा। फिर भी अगर आप यह आशा नहीं त्याग सकते तो जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये।

अर्जुन का स्पष्ट उत्तर सुनकर रुक्म क्रुद्ध हो गया। वह कहने लगा—मैं इतनी विशाल सेना लेकर तुम्हारी सहायता के लिए आया हूँ तुम इतने-से शब्द भी नहीं कह सकते! अगर तुम इतना कह दो तो एक घड़ी के छठवें भाग में ही मैं तुम्हें विजयी बना सकता हूँ और युधिष्ठिर के मस्तक पर राज मुकुट रखवा सकता हूँ।

ऐसे प्रसंग पर आपसे सलाह ली जाती तो आप अर्जुन को क्या सलाह देते ? शायद आप यही सलाह देते कि ऐसे

नाजुक मौके पर रुक्म के आगे नम्र हो जाना और रुक्म के अभीष्ट शब्द कह देना ही उचित है। रुक्म को किसी भी प्रकार से अपने पक्ष में रखना चाहिए। मगर अर्जुन वीर था। रुक्म ने उससे यह भी कह दिया था कि मेरा कहना न मानोगे तो अपनी मृत्यु समीप ही समझ लेना। मैं अभी तुम्हारे शत्रु के पक्ष में मिल जाऊँगा। रुक्म की इस प्रकार की धमकी सुनकर भी अर्जुन ने परवाह नहीं की। अर्जुन ने यही कहा—अगर आपकी इच्छा विरुद्ध पक्ष में जाने की है तो प्रसन्नता के साथ जा सकते हैं। मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध आपको रोकना नहीं चाहता। लेकिन आपके सामने इस प्रकार की दीनता नहीं दिखला सकता। आप कौरव-पक्ष मे सम्मिलित होने को सोचते हैं मगर दुर्योधन आपसे अधिक बुद्धिमान् है। वह आपके चाहे हुए शब्द कदापि नहीं कह सकता।

रुक्म—दुर्योधन को भी मेरे कहे हुए शब्द कहने पड़ेंगे। वह नहीं कहेगा तो मैं उसके पक्ष में भी सम्मिलित नहीं होऊँगा।

अर्जुन—यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। मगर इस प्रकार के शब्द कहने वाला कोई नहीं है।

रुक्म पाण्डवों की छावनी से अपनी विशाल सेना के साथ चला गया और देखते-देखते कौरवों के शिविर में जा

देवों से आप बड़े हैं। फिर भी आप देवों से किसी चीज की याचना तो नहीं करते ? अगर आप अपने धर्म पर दृढ़ रहें तो देव आपके दास हैं। शास्त्र में कहा है—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

कहने का आशय यह है कि मनुष्यजन्म सुकृत करने के लिए बहुत उपयुक्त है। अतएव इसे पाकर सुकृत कर लो। अगर आप सुकृत करते रहें तो इस मार्ग से भी परमात्मा की शरण में पहुँच सकते हैं और अपने पापों को नष्ट कर सकते हैं। मगर इसके लिए मन को दृढ करने की आवश्यकता है। जिस का मन प्रबल नहीं है, जिसकी इच्छा शक्ति में दृढ़ता नहीं है, वह किसी भी काम को भलीभांति सम्पन्न नहीं कर सकता। जो अधूरे मन से कार्य आरंभ करता है वह जरा सी कठिनाई आते ही उसे छोड़ बैठता है। यही कारण है कि निर्बल मन वाला व्यक्ति किसी भी कार्य को पूर्णता पर नहीं पहुँचा सकता। इस संबध में शास्त्रों में और ग्रथों में अनेक उदाहरण दिये गये हैं, जिन्हें समय-समय पर मैं आपको सुनाता भी रहता हूँ। आज भी पाण्डव-चरित की एक घटना सुनाता हूँ।

भलीभांति विचार-विमर्श करने के पश्चात् श्रीकृष्ण, पाण्डवों की ओर से संधि कराने के लिए दुर्योधन के पास गये थे। मगर संधि नहीं हुई। दुर्योधन दुराग्रही था। उसने

साफ़-साफ़ कह दिया कि युद्ध के बिना मैं सुई की नोक बराबर भूमि भी नहीं दूँगा।

यह सुनकर कृष्ण सोचने लगे-अब युद्ध अनिवार्य हो गया है! यद्यपि इस युद्ध से अनेक हानियां होंगी और युद्ध न होने देने के लिए ही मैंने प्रयत्न भी किया, पर दुष्ट कौरव अन्याय करने पर तुले हुए हैं, अतएव युद्ध अब करना ही पड़ेगा।

जब पाण्डवों को यह बात मालूम हुई तो वे रण की तैयारी करने लगे। कृष्णवेती नदी के किनारे पर पाण्डवों ने अपनी सेना एकत्र करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सैनिक ढंग से अपना शिविर बनाया। बीचोंबीच कृष्ण का तम्बू लगा हुआ था उसके आस पास पांचों पाण्डवों के डेरे लगे थे और वहीं द्रौपदी का भी डेरा लगा हुआ था। द्रौपदी कार्य करने मे तो पुरुषों से आगे नहीं बढ़ती थी मगर अपने विचार प्रस्तुत करने मे सब से आगे रहती थी। वह बहुत उग्र विचार की थी और उसकी वाणी में बहुत ओज भरा रहता था। इसी कारण उसका तम्बू वहां लगाया गया था। शिविर मे सेनापति धृष्टद्युम्न, राजा द्रुपद, विराट आदि के डेरे भी ढंग से लगे हुए थे। पाण्डव सब की यथोचित व्यवस्था करते थे। उन्होंने सब राजाओं के पास युद्ध का निमंत्रण भेजा था और उस में स्पष्ट लिख दिया था कि जिस की इच्छा हो—जो अन्याय के प्रतिकार में सहायक बनना चाहता हो, वह हमारी ओर से युद्ध में सम्मिलित हो जाय। कौरवों ने

भी राजाओं को आमन्त्रण भेजा था। अतएव कई राजा पाण्डवों की ओर सम्मिलित हुए और कई कौरवों की ओर।

कुन्दनपुर के राजा भीम के पुत्र रुक्म ने आमंत्रण पाकर सोचा–युद्ध का आमंत्रण आया है, अतएव सम्मिलित होना तो आवश्यक ही है। इस अवसर पर घर में बैठा तो रह नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि किस ओर जाना चाहिये?

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि युद्ध का आमंत्रण पाकर सिर कटाने के लिए जाना क्या आवश्यक है? आज के लोग विवाह की कुंकुमपत्रिका भेजते हैं और पत्रिका पाने वाला प्रायः विवाह में सम्मिलित होता है। लेकिन पहले के वीर पुरुष युद्ध का आमंत्रण पाकर सर कटाने के लिए भी जाया करते थे। मेवाड़ का इतिहास देखो तो मालूम होगा कि किस तरह राजा लोग युद्ध का आमंत्रण पाकर युद्ध के लिए जाया करते थे। बल्कि मेवाड़ के राणा की ओर से युद्ध का आमंत्रण पाना और राणा की सहायता करना गौरव की बात समझी जाती थी। मगर आज वह वीरता कहां है? आज ऐसी निर्बलता आ गई है कि युद्ध का नाम सुनते ही लोगों को बुखार चढ़ आता है।

रुक्म ने सोचा—युधिष्ठिर का पक्ष बलवान है और न्याय भी उसी ओर है। अतः युधिष्ठिर के पक्ष में ही युद्ध करना चाहिए। लेकिन बहिन के विवाह के समय कृष्ण ने मेरा जो अपमान किया था, वह अब तक मेरे हृदय में कांटे की तरह चुभ रहा है। इस युद्ध

में उस अपमान का बदला लेना चाहिये। कठिनाई यह है कि कृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में उन से बदला कैसे ले सकता हूँ? मगर उनके मित्र का अपमान कर के मैं अपने अपमान की भर पाई करलूंगा! इस प्रकार विचार कर और अपनी विशाल सेना को साथ लेकर रुक्म रवाना हुआ। वह पाण्डवों के शिविर में आया। युधिष्ठिर ने उसका स्वागत किया।

रुक्म ने पूछा—आप सब आनन्द में हैं न?

युधिष्ठिर—वैसे तो आनन्द ही आनन्द है परन्तु आपके आगमन से विशेष आनन्द हुआ।

रुक्म—अगर ऐसे समय पर भी मैं न आता तो मेरी वीरता को कलंक लगता। दुर्योधन का अत्याचार और आपका सौजन्य जगत में प्रसिद्ध हो चुका है। ऐसा होते हुए भी अगर मैं अपने घर में बैठा रहता और आपका आमंत्रण पाकर भी न आता तो मेरा क्षत्रियत्व कलंकित हो जाता।

युधिष्ठिर—आपके विचार उच्च हैं और आपका हमारे प्रति प्रेम है। इसी कारण आप आये हैं।

रुक्म—मैं क्षात्र धर्म का पालन करने आया हूँ। न्याय की रक्षा करना ही क्षत्रियों का धर्म है। 'क्षतात्-नाशात् त्रायते—इति क्षत्रियः।' जो धर्म की रक्षा करता है वही वास्तव में क्षत्रिय

पहुंचा। अर्जुन सोच रहा था—ऐसा अभिमानी व्यक्ति कदापि विजय नहीं दिला सकता। विजय धनुष ने उसे जीत लिया है। फिर भी उसका अहंकार संसार में ही नहीं समाता! हमारे पक्ष में भले ही थोड़े योद्धा हों, अगर वे उच्चश्रेणी के होंगे तो हमारी ही विजय होगी। इस प्रकार के लोगों की भर्ती करना वृथा है। धर्म के साथ व्यवहार करने वाले थोड़े व्यक्ति भी पर्याप्त हैं। धर्म को हार जाने वाले बहुत व्यक्ति भी व्यर्थ हैं, यही नहीं बल्कि हानिकारक भी हैं।

कहने का आशय यह है कि मन की दृढ़ता के बिना कोई भी मनुष्य, किसी भी महत्त्वपूर्ण काम को पूर्णता तक नहीं पहुंचा सकता। अर्जुन के मन मे दृढ़ता थी। इसी कारण रुक्म के बहुत कहने सुनने पर भी उसने दीनता दिखलाना स्वीकार नहीं किया। आपके सामने युद्ध के ऐसे अवसर तो नहीं आते, मगर छोटी मोटी बातों में भी आप अपने धर्म को और गौरव को तो नहीं छोड़ बैठते? अगर आपको धर्म पर विश्वास है, आपके मन में धर्म के प्रति दृढ़ता है, तो चाहे जैसा कठिन अवसर आवे या कैसा भी लोभ सामने आवे, आपको धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। कहावत है—

सत मत छोड़ो सूरमा, सत्त्गों चौगुनी होय।
सत दुख रेखा कर्म की, टार सके नहिं कोय॥

चिट्ठी पर लिखा जाने वाला साढ़े चौहत्तर का अंक यह सूचना देता है कि सत्य का परित्याग मत करो। सात का अंक कहता है कि मेरी (सत्य की) रक्षा करो और चार का अंक प्रगट करता है कि चाहे लक्ष्मी चौगुनी होती हो, फिर भी सत्य मत छोड़ो। दो लकीरें यह बतलाती हैं कि सुख और दुःख कर्म से मिलते हैं। सत्य को त्याग देने से दुख मिटकर सुख नहीं बन जायगा। अतएव किसी भी दशा में सत्य मत जाने दो किन्तु प्रत्येक परिस्थिति मे धर्म की ही रक्षा करो। उदयपुर का तो मुद्रालेख ही यह है—

जो दृ. [illegible] राखे धर्म को तेहि [illegible] करतार

अर्जुन ने सेना सहित रुक्म को जाने दिया पर अपना धर्म नहीं जाने दिया। उसने वास्तविकता के विरुद्ध यह नहीं कहा कि मैं भयभीत हूँ। वह क्षत्रिय था। उसके मन में दृढ़ता थी। इस कारण उसने सत्य की रक्षा की। क्षत्रिय सत्य की रक्षा करता है और सत्य के प्रति उसके मन में दृढ़ आस्था होती है। तो क्या आप श्रावकों को सत्य की रक्षा नहीं करनी चाहिए? श्रावक सत्य का आग्रही होना चाहिए। सचाई और मानसिक दृढ़ता से ही सत्कर्म सिद्ध होते हैं। सत्य सरलता चाहता है। अतएव सरलता के साथ सत्य का पालन करो। ऐसा करने से सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी और आत्मा का कल्याण होगा। सत्य का पालन करके ही

आप भगवान् अजितनाथ की शरण में पहुँच सकते हैं। भगवान् की शरण में पहुँचने का यह मार्ग सरल है। इस सरल सन्मार्ग पर चलते चलो और स्व-परकल्याण साधो!

व्यष्टि और समष्टि

आज म्हारा संभव जिनजी का हित चित से गुण गास्यां राज ।

यह भगवान् सभवनाथ की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में भक्त ने भगवान् से जो आशा बाँधी है, वह आशा सिर्फ उस अकेले भक्त की नहीं है वरन् सारे जगत् की है।

प्रश्न हो सकता है कि इस आशा को समस्त जगत् की आशा कहने का आधार क्या है ? प्रार्थना करने वाले कवि ने क्या सारे संसार से पूछकर प्रार्थना की है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ जगत् के समस्त जीव तो विद्यमान नहीं है, कहीं सब एकत्र किये भी नहीं जा सकते, लेकिन यहाँ जो संघ उपस्थित है, उसकी आन्तरिक आकांक्षा को पहिचानकर हम जान सकते हैं कि प्रार्थनाकार कवि को सारे जगत् का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है या नहीं ? और कवि ने जो आशा प्रकट की है वह उपस्थित संघ की भी आशा है या नहीं ?

कोई भी व्यक्ति जब प्रार्थना में पूर्णरूप से सलग्न हो जाता है, तब उसमें से वैयक्तिक भावना निकल जाती है और उसका स्थान समष्टि भावना ग्रहण कर लेती है। ऐसा होना अनिवार्य है। परमात्मा की प्रार्थना करते हुए भी अगर

व्यक्तित्व की भावना न मिटी और समष्टि की भावना न आई तो समझना चाहिए कि अभी परमात्मा की प्रार्थना में पूर्णता नहीं आ पाई है। ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत हिताहित का विचार तो अनादि काल से करता आ रहा है, लेकिन परमात्मा की प्रार्थना करने पर तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आ जानी चाहिए और समस्त जगत् को अपना ही मानना चाहिए। जब अहंभाव में से संकीर्णता समाप्त हो जाय और उसकी समस्त परिधियाँ खत्म हो जाएँ तब समझना चाहिए कि परमात्मा की प्रार्थना हुई है। जब तक ऐसी व्यापक भावना उत्पन्न न हो, समझ लो कि प्रार्थना करने में कसर है।

परमात्मा की प्रार्थना करने पर किस प्रकार वैयक्तिक भावना मिटकर समष्टि-भावना आ जाती है ? और समष्टि भावना आ जाने पर मनुष्य किस प्रकार परमात्ममय हो जाता है ? इन प्रश्नों का उत्तर बहुत विशाल है। फिर भी इस बात पर कुछ प्रकाश डालने के लिए कहना ही होगा। जल जब तक घड़े में है तब तक वह घड़े का जल कहलाता है। जब वह जल घड़े से बाहर निकल कर किसी प्रकार समुद्र में मिल जाता है तब वही जल सागर बन जाता है। फिर वह घड़े का जल नहीं रहता। यद्यपि जल दोनों अवस्थाओं में एक ही है, फिर भी उपाधि के कारण उसमें

भेद मालूम होता है। घड़ा ही उस जल और सागर के बीच में अन्तराय हो रहा था। जब अन्तराय मिट गया तो जल सागर में मिल गया—सागर रूप हो गया।

इसी प्रकार जब तक आत्मा इस शरीर में बैठा हुआ है तब तक तो वह आत्मा कहलाता है, लेकिन शरीर से मुक्त होने पर आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार की विषमता नहीं रहती जब तक शरीर के प्रति ममता है तब तक आत्मा परमात्मा से दूर है। इसी ममता के कारण आत्मा अनादिकाल से दुःख भोगता आ रहा है और जब तक ममता रहेगी, दुःख भोगता ही रहेगा। इस प्रकार शरीर के प्रति जो ममता है वही सब गड़बड़ मचाये है। जिस समय पूर्ण रूप से ममता हट जायगी, आत्मा और परमात्मा के बीच कोई पर्दा नहीं रहेगा, किसी प्रकार की विषमता शेष नहीं रहेगी। अतएव ममता को मारने की आवश्यकता है। इसका आशय यह न समझा जाय कि शस्त्र से या विष से आत्म हत्या करली जाय और इस प्रकार शरीर त्याग दिया जाय ऐसा करने से लाभ के बदले हानि ही होगी। विष भक्षण करके शरीर का पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया जा सकता। मेरे कथन का आशय यह है कि शरीर के प्रति आत्मीयता का भाव हटा दिया जाय, इसे पर-पदार्थ माना जय इसके सुख दुःख को ही आत्मा का सुख दुःख ना समझा जाय, वल्कि समष्टि से सुख-दुःख को एकाकार कर लिया जाय—जगत् की शान्ति में अपनी शान्ति

मानी जाय, ससार के दुःख को अपने दुःख के रूप में ग्रहण किया जाय। जो पुरुष व्यक्तित्व को भूलकर समष्टि का ध्यान रखता है और शरीर से ममत्व नहीं करता है, वह शरीर मे रहता हुआ भी परमात्मा से दूर नहीं है। व्यक्तित्व की भावना हट जाने पर और समष्टि की भावना आ जाने पर शरीर के रहते हुए भी शरीर पर ममत्व नहीं रहता।

श्रावक प्रायः प्रतिदिन यह पाठ बोलते हैं—

मित्ती मे सव्व भूएसु।

अर्थात्—समस्त प्राणी मेरे मित्र हैं। मगर क्या आप कह सकते हैं कि इस पाठ का उच्चारण आप केवल जीभ से करते हैं या हृदय से करते हैं? अगर यह पाठ हृदय से बोला जायगा तो व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग किये बिना आपको चैन ही नहीं पड़ेगा। यही नहीं, बल्कि हृदय से इस पाठ का उच्चारण करनेवाला समष्टि के सुख के लिए अपने शरीर को भी निछावर करने के लिए तैयार हो जायगा। उस अवस्था मे धन की तो बात ही क्या है, तन भी तुच्छ दिखाई देगा। इस प्रकार की शक्ति किसमे आ सकती है और किसमे नहीं आ सकती, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह शक्ति ब्राह्मण कहलानेवाले में भी नहीं आ सकती और चाण्डाल कहलानेवाले मे भी आ सकती है। इसी प्रकार दूसरे में नहीं आ सकती और ब्राह्मण में आ सकती है। यानी इस सम्बन्ध मे कोई जातिगत या कुलगत

कोई नियम नहीं है। कोई भी क्यों न हो, जिसने समष्टि की भावना को अपनाया है वह महापुरुष है और ऐसे महापुरुषों से ही जगत् का कल्याण हो सकता है। जिनकी दृष्टि में व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता रहती है जो अपनी हानि और अपने लाभ के गजों से ही अपने कर्त्तव्य को नापना जानते हैं, उन से विश्व का कल्याण नहीं हो सकता। ऐसे लोग तो संसार में बहुत हुए हैं जिन्हों ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए समष्टि को संकट में डाला है। ऐसे लोगों से जगत् का हित नहीं, अहित ही हुआ है। जगत् का हित तो समष्टिगत लाभ के लिए अपने व्यक्तित्व को भूल जानेवाले पुरुषों के द्वारा ही हुआ है। ऐसे ही पुरुषों ने महापुरुष का पद पाया है। ऐसे महापुरुषों की शरण में जाने के लिए ही कवि ने कहा है—

आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित से गुण गाम्यां राज। आज० ॥

भगवान् संभवनाथ ने अपने सुख-दुःख को भुलाकर जगत् के सुख के लिए ही व्यापार किया था। स्वार्थ-भावना रखकर व्यापार करना कोयले का व्यापार करने के समान है, जिससे हाथ तो काले हो जाते हैं मगर नफा ज्यादा नहीं होता। और स्वार्थ-भाव त्याग कर समष्टि के लाभ के लिए व्यापार करना हीरे के व्यापार के समान है। यह व्यापार अनन्त हीरों के व्यापार से भी बढ़कर है। इस प्रशस्त व्यापार की प्रशंसा करने के लिए शब्द पर्याप्त नहीं हैं।

अतएव मेरा सन्देश यही है कि अगर आप संभवनाथ भगवान् की शरण ग्रहण करना चाहते हैं तो व्यक्तिगत लाभ की भावना से ऊपर उठो। अपने स्वार्थ को न भूल सको तो कम से कम अपने स्वार्थ के साथ-साथ सार्वजनिक हित का ही ध्यान रक्खो।

यहां जो संघ एकत्र हुआ है, वह कुछ काम करने के लिए या यों ही? आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि जो समाज जगत् के हित के लिए है, उस समाज में भाग न लेना, उस का सदस्य न बनना, आत्म-हत्या करने के समान है। दूसरे के हित के काम में प्रमाद नहीं करना चाहिए और उसमें इस प्रकार भाग लेना चाहिए, मानो वह अपने ही हित का कार्य है।

मैंने आपको एक वैदिक श्रुति सुनाई थी। उसका आशय यह था कि पुरुष के हृदय में एक पापकर्म की राशि होती है और दूसरी पाप-पुण्य की मिश्र राशि होती है। यह दोनों राशियां सदैव नहीं बनी रहतीं, बल्कि सुकृत की एक उज्ज्वल राशि उत्पन्न होकर इन दोनों राशियों को भस्म कर देती है। उदाहरणार्थ—एक कमरे में पूरी तरह अंधकार है। दूसरे कमरे में टिमटिमाता हुआ दीपक जलता है, जिससे किंचित प्रकाश तो है मगर सब अंधकार नहीं मिटा है। सूर्य प्रकट होकर दोनों कमरों का अंधकार मिटा देता है। इसी प्रकार आत्मा में विद्यमान पापराशि को और मिश्रराशि को, सुकृत की उज्ज्वल

राशि नष्ट कर देती है। अतएव सुकृत किये बिना समय मत गँवाओ। सुकृत करने से आत्मा में रही हुई पापराशि और मिश्रराशि मिट जायगी। सुकृत करने के लिए मनुष्यजन्म ही सर्वोत्तम अवसर है। इसके लिए दूसरा शरीर उपयुक्त नहीं है।

शास्त्र का समीचीन अर्थ जानकार के बिना भलीभांति समझ में नहीं आता। महाभारत में कहा गया है कि धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र में युद्ध हुआ। लेकिन धर्मक्षेत्र का अर्थ क्या है, और कुरुक्षेत्र का तात्पर्य क्या है; यह बात तो कोई समझदार ही समझ सकता है। कुरु का अर्थ है—कु-रु। जहां आज कांटे उगते हैं, उस भूमि का सुधार किया जाय तो उसमें गेहूँ भी पैदा हो सकते हैं। यह शरीर कुरुक्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र को भी प्रयत्न द्वारा धर्मक्षेत्र बनाया जा सकता है। काम, क्रोध, मोह, मत्सर आदि का वास होने के कारण शरीर कुरुक्षेत्र बना हुआ है। जब इन विकारों का अन्त हो जायगा और उनके स्थान पर अहिंसा आदि सद्गुण आ जाएंगे तो यह शरीर कुरुक्षेत्र से धर्मक्षेत्र बन जायगा। शरीर जब धर्मक्षेत्र बन जाता है तभी आत्मा का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं।

मैं बार-बार यह बात आपको सुनाता हूँ और आप बार-बार सुनते हैं। मगर सुन लेने मात्र से आत्मा की भलाई नहीं हो सकती। धर्म की जिस बात का आप श्रवण करते हैं, उसे अपनी शक्ति के अनुसार अमल में लाइए। यह अपूर्व अवसर

जो आपको मिला है सो सुन लेने भर को नहीं है। यह कार्य करने का अवसर है। कार्य करके दिखलाओ लोग सभाएं करते हैं, अधिवेशन किया करते हैं, सो इसी उद्देश्य से कि कोई जनहितकारी मार्ग निकले। लेकिन इस प्रकार की सभा देखकर ही रह जाना ठीक है या उसमें सम्मिलित होकर नियमों का पालन करना उचित है? जो सभा-सोसाइटी कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ के लिए न हो किन्तु जगत् का हित करने के लिए हो वही सच्ची सभा-सोसाइटी है; अन्यथा उसे स्वार्थियों का गुट ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार वही समाज समाज है जो समष्टि के हित को अपना लक्ष्य बनाता है। सबका हित सामने रखकर कार्य करने पर सभी कार्य संभव हैं।

व्यक्तिगत स्वार्थ को किस प्रकार भूल जाना चाहिए और समष्टि का किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए, यह बात भी पाण्डवों के चरित्र से समझी जा सकती है। कई लोगों को यह भ्रम हो रहा है कि अपने घर में साहित्य नहीं मिलता, किन्तु बाहर ही साहित्य मिलेगा। यह भयानक भ्रम है। जब बाहर देखना त्याग कर अपने घर को देखोगे तो पता चलेगा कि जहां के पृथ्वी पानी से आपका शरीर बना है, उस भारत में कैसा साहित्य विद्यमान है। दूसरों के साहित्य की प्रशंसा में अपने साहित्य को भूल जाना अनुचित है। आप जिस भूमि पर उत्पन्न हुए हैं, उसकी महिमा का विचार करो।

उसकी ओर अवज्ञा का भाव रखना और दूसरे देशों की तरफ टकटकी लगाना कृतघ्नता है। अमेरिका के देशभक्त डाक्टर थोर की बात मैं कई बार कह चुका हूँ। उनका कहना है कि जिस भूमि ने मेरा बोझ उठा रक्खा है उसे स्वर्ग से भी बढ़कर मानना चाहिए। यही बात हमारे यहां भी कही गई है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

बहुत से लोग स्वर्ग की प्रशंसा के गीत गाते हैं और कहते हैं कि यहां तो दुःख ही दुःख है। लेकिन शास्त्र के अनुसार इस भूमि का महत्त्व समझोगे तो पता चलेगा कि स्वर्ग बड़ा है या यह भूमि बड़ी है। इसी प्रकार बहुत से लोग भारत को तुच्छ और यूरोप के पेरिस आदि नगरों को महान् समझते हैं। जो आदमी अपने घर को नहीं देखता है किन्तु बाहर ही देखता है, उसे इस प्रकार का विचार होना स्वाभाविक है। लेकिन उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि केवल बाहर देखकर घर की उपेक्षा या अवज्ञा करने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। अपने घर में कुछ है या नहीं, इस बात का पता तो तभी लग सकता है जब ध्यानपूर्वक घर को टटोला जाय। जिस भारत के आगे यूरोप की प्रशंसा की जाती , उसके विषय मे दुर्लभजी भाई के *लड़के, जो कई बार यूरोप जा आये हैं, कहते थे कि यूरोप में तलाक तो होता

* जयपुर निवासी श्री विनयचंद भाई जौहरी

ही था, अब परिमित समय के लिए विवाह भी हो सकता है। अर्थात् दो-चार वर्ष के लिए भी विवाह हो सकता है। इस नियत अवधि के पश्चात् पति और पत्नी दोनों स्वतंत्र हैं। वे चाहें तो किसी दूसरे के साथ विवाह कर सकते हैं। यह उस स्वर्ग का हाल है जिस पर ललचाकर भारत की निन्दा की जाती है। क्या यह पद्धति आर्यदेश के लिए घृणास्पद नहीं है?

खेद है कि आज अनेक भारतवासी विदेशों की चाल-ढाल पर ललचाकर भारत के शत्रु बन रहे हैं—मातृभूमि के विरोधी हो रहे हैं। यद्यपि प्रगट में कोई अपनी मातृभूमि का शत्रु नहीं बनना चाहता, लेकिन कार्य ऐसे किए जाते हैं। उदाहरणार्थ—जहां पैदा हुए हैं वहां का खाना-पीना आदि पसंद न करके दूसरे देश का खाना-पीना पसद करना। यह मातृभूमि से शत्रुता करना नहीं तो क्या है? माता का बनाया भोजन पसंद न आना और वेश्या का बनाया पसंद करना क्या माता के प्रति द्रोह करना नहीं है? ऐसा व्यक्ति मातृद्रोही ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिसे भारत का रहन-सहन, खान-पान और पोशाक पसंद नहीं है किन्तु विदेशी रहन-सहन, खान पान और पोशाक पसंद है, वह मातृभूमि का द्रोही क्यों नहीं है? विदेशों की देखादेखी अपने आचरण को खराब करना अपने आत्मा का अहित करना है। क्योंकि जिसका बाहरी आचरण शुद्ध रहता है उसी का आन्तरिक आचरण

शुद्ध रह सकता है। जिसका बाहरी आचरण ही शुद्ध नहीं है, उसका आन्तरिक आचरण शुद्ध किस प्रकार रह सकता है? जब तक बाह्य आचरण शुद्ध नहीं है तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि आन्तरिक आचरण शुद्ध है। मुझ में साधुता तो हो मगर साधु के योग्य वेष मैंने धारण न किया हो तो क्या आप मुझे साधु कह सकते हैं? अगर नहीं, तो आप हमारे वेष का तो इतना खयाल रखते हैं और अपने वेष का खयाल नहीं करते! यह कैसे उचित कहा जा सकता है? आज आप अपने वेष का खयाल नहीं करते हैं, लेकिन जरा विचार तो करो कि आपके पूर्वज कैसे हुए हैं? इस बात को जानने के लिए पाण्डवचरित्र में से एक घटना सुनिये।

कौरवों और पाण्डवों में कलह क्यों था? इस प्रश्न का उत्तर लम्बा है। उस पर विवेचन करने का समय नहीं है। यहां सिर्फ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि युधिष्ठिर, दुर्योधन से अपना हक मांगते-मांगते थक गये। मगर दुराग्रही दुर्योधन ने साफ कह दिया—युद्ध के बिना मैं थोड़ी-सी भी भूमि नहीं दूंगा। दुर्योधन का यह स्पष्ट उत्तर पाकर भी युधिष्ठिर ने सोचा—हमें थोड़ा प्रयत्न और कर लेना चाहिए जिससे कोई हमें दोषी न ठहरा सके। यह सोचकर पांचों पाण्डव द्रौपदी के साथ कृष्ण के पास द्वारिका गये। युधिष्ठिर ने कृष्ण को सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्होंने यह भी कहा—दुर्योधन के

भीषण अत्याचारों और अन्यायों के बावजूद भी मैं यही चाहता हूँ कि भरतवंश सुरक्षित रहे। उसे किसी प्रकार क्षति न पहुँचे। लेकिन दुर्योधन हमारा राज्य हमारे मांगने पर भी नहीं लौटाता और हमें दबाता है। हम आपके पास आये हैं। आप ही हमें मार्ग सुझाइए। हमें अब क्या करना चाहिए? आप हमें जो आदेश देंगे, उसे हम शिरोधार्य करेंगे, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है।

इस प्रकार युधिष्ठिर ने कृष्ण पर भार डाल दिया। भीम और द्रौपदी ने भी अपने उग्र विचार कृष्ण के सामने प्रकट किये। सब की बात सुनकर कृष्ण ने अर्जुन से पूछा—तुम क्यों चुप हो? तुम भी अपने विचार प्रकट करो।

अर्जुन ने नम्रता के साथ कहा—जब मैं आपका शिष्य बन गया हूँ, मैंने आपको हाथ जोड़ लिये हैं, तो आपसे भिन्न कहा रहा? मुझसे कुछ जानने या पूछने की आवश्यकता ही क्या रह गई है? मैं अपना सर्वस्व आपको सौंप चुका हूँ। मेरा सिर्फ एक ही कर्त्तव्य है—आपके आदेश को स्वीकार करना। ऐसा करने में चाहे सर्वस्व जाता हो या प्राण देने पड़ते हों।

कृष्ण—यह तो ठीक है, मगर तुम्हारे विचार जाने बिना संधि कराने जाऊं और वहां तुम्हारे विचारों के विरुद्ध कोई कार्य हो जाय तो ठीक नहीं होगा। अतएव मैं तुम्हारे विचार जान लेना चाहता हूँ।

अर्जुन—सूर्य के सामने दीपक को क्या बिसात है? फिर भी सूर्य की पूजा करने वाले लोग सूर्य को अपने घर का दीपक दिखाते ही हैं। इसी प्रकार आपके सामने मेरे विचार दीपक के समान हैं। लेकिन आपका आदेश है तो मैं उसका उल्लंघन नहीं कर सकता और अपने विचार आपके समक्ष रखता हूँ।

अर्जुन ने कहा—कृष्णजी, हम में शक्ति है, मगर धर्मराज अवसर आने पर हमें दबा देते हैं। मुझे यह बात रुचती नहीं। यद्यपि मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता का विरोधी नहीं हूँ और उनकी आज्ञा का अनुयायी हूँ, फिर भी इस समय मैं अपने स्वतंत्र विचार प्रस्तुत कर रहा हूं। मैं मानता हूँ कि राज्य मांगने से नहीं मिला करता। हमने दुर्योधन और धृतराष्ट्रके हृदय को परख लिया है। वे राज्य देने की इच्छा नहीं रखते। बल्कि हमारे मांगने से उनका साहस और बढ़ गया है। वे समझने लगे हैं कि हमारे दिये बिना पाण्डव राज्य नहीं पा सकते। अगर राज्य पर इनका हक होता और उसे पाने की इनमें शक्ति होती तो याचना क्यों करते? इस प्रकार मांगने से कौरव राज्य नहीं देंगे। फिर भी हमें अपने अधिकार का राज्य तो लेना ही है। अतएव हमें अपना अधिकार अपनी शक्ति से ही प्राप्त करना चाहिए। याचना करना अपने गौरव को घटाना है।

कृष्ण—तो क्या तुम्हारा यह अभिप्राय है कि भीम के कथनानुसार मैं कौरवों के सामने युद्ध का ही प्रस्ताव उपस्थित करूं?

अर्जुन—मैंने भीष्म और द्रोण से समझा है कि युद्ध में कितनी बुराइयां और उससे कितनी अधिक हानि होती है। युद्ध मे एक पक्ष दूसरे पक्ष का विनाश ही चाहता है और विनाश ही करता है, लेकिन वास्तव में भावी प्रजा के लिए निर्णय करने के अधिकारी हम कैसे हो सकते हैं? अपने स्वार्थ के लिए भावी प्रजा को संकट मे डाल देना राजनीतिक बुद्धिमत्ता नहीं है। अतएव मैं युद्ध का ही प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए नहीं कहता। मेरा कथन सिर्फ यही है कि हमारा हक़ हर हालत मे हमे मिलना चाहिए। आप जिस विधि से उचित समझें, हमारा हक़ दिलावें।

कृष्ण—यह तो मैं समझ गया। लेकिन दुर्योधन के हाथ में सत्ता है। मुझे विश्वास नहीं होता कि वह राज्य का लोभ छोड़ देगा। ऐसी दशा में तुम मुझे किस मार्ग का अवलम्बन करने के लिए परामर्श देते हो?

अर्जुन—आपका विचार यथार्थ है। वास्तव में सत्ता मनुष्य को गिरा देती है। यद्यपि सत्ता दूसरों की सेवा के लिए होनी चाहिए, मगर सत्ता प्राप्त होने पर मनुष्य मे अहंभाव आ जाता है और इस कारण सत्ताधीश घोर अनर्थ भी कर डालता है। दुर्योधन के हाथ में इस समय सत्ता है। अगर वह अपनी सत्ता का दुरुपयोग न करता तो हमें दखल देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन वह

सत्ता का दुरुपयोग करता है—सत्ता के बल से हमें दबाना चाहता है, अतएव हमें प्राण देकर भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तत्पर रहना होगा।

कृष्ण—यह तो ठीक है। मगर मैं जा रहा हूँ। अगर भीष्म और द्रोण को कोई संदेश कहना हो तो कहो।

अर्जुन – आपके द्वारा ही अगर उन्हें संदेश न भेजूंगा तो फिर किस के साथ भेजूँगा ? आप कृपा कर मेरे काका धृतराष्ट्र से कहना कि आप आँखों से अंधे हैं, मगर हृदय से अंधे मत बनो। आपके लिए यह उचित है कि आप हम पाण्डवों को और दुर्योधन को समान समझें। मगर आप पक्षपात में पड़ गये हैं और दुर्योधन को अधिक तथा हमें न्यून मान कर अपने बड़प्पन में कलंक लगा रहे हैं। अभी तक जो हुआ सो हुआ। लेकिन अब ऐसा उपाय करो कि कुल का विनाश न हो।

काका से यह कहने के साथ ही आप भीष्म और द्रोण से यह कहना कि अर्जुन ने आपको प्रणाम किया है। वह आपके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। वैसे तो आप सत्य के पक्षपाती हैं और हमसे स्नेह करते हैं, लेकिन ऐसे नाजुक प्रसंग पर चुप्पी साधना अपनी वीरता और अपने क्षात्रत्व को कलंक लगाना है। आपने ऐन मौके पर मौन रह कर सत्य और स्नेह की रक्षा नहीं की है। अब भी आप सावधान हों। दुर्योधन आपके बल के भरोसे

ही सेना सजा रहा है और आप उसके अन्याय को जानते हुए भी उसे सहयोग देने के लिए तैयार हुए हैं। यह सर्वथा अनुचित है।

इतना कहकर अर्जुन ने कहा—आप मेरी तरफ से यह संदेश कह देना। अन्त में मैं यही कहता हूं कि मेरी बुद्धि अल्प है और आपकी बुद्धि सागर के समान अथाह है। अतएव आप जो भी कुछ करेंगे, हम उसमें अपना कल्याण मानेंगे और आपके किये कार्य के विरुद्ध कदापि, कुछ भी नहीं कहेंगे।

कृष्ण से यह कह चुकने के पश्चात् अर्जुन ने युधिष्ठिर से पूछा – आपका क्या विचार है ?

युधिष्ठिर – मैं ने आपकी शरण में रहकर आपका उपदेश सुना है। मैं जानता हूं कि बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी आपके विचार सुनकर नम्र हो जाते हैं और अपना पक्ष छोड़ देते हैं। आपके विचार हृदय को इस प्रकार प्रभावित कर देते हैं कि उनके विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कह सकता। अतएव आप जो कुछ करेंगे, मुझे स्वीकार होगा।

युधिष्ठिर ने भीम, नकुल और सहदेव से पूछा—तुम्हारा क्या विचार है ? सभी ने कृष्ण पर अपना विश्वास प्रकट किया और उनके निर्णय को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की।

अन्त में द्रौपदी की बारी आई। उससे पूछा गया—देवी, तुम्हारा क्या विचार है ? इस प्रश्न के उत्तर में द्रौपदी ने

अपने केश हाथ में लेकर कृष्ण से जो कुछ कहा था, वह कथन इतना उग्र था कि उससे मुर्दा हृदय में भी एक बार जान आ सकती थी। उसने ऐसी उग्रता भरी बात कह कर भी अन्त में यही कहा—आप मेरे केशों का विचार अवश्य रक्खें। यों तो मैं आपके साथ ही हूँ। आप जो कुछ करेंगे, हमारे हित में ही होगा और वह सब मुझे स्वीकार होगा।

इस प्रकार द्रौपदी सहित सभी पाण्डवों ने कृष्णजी पर अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया। परिणाम इसका यह हुआ कि महाभारत-संग्राम में पाण्डवों को ही विजय प्राप्त हुई। यद्यपि युद्ध में कृष्ण निश्शस्त्र थे फिर भी कृष्ण पर ही सब ने विश्वास प्रकट किया। इसी विश्वास की बदौलत उन्होंने विजय पाई थी। इस घटना के प्रकाश में हमें अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। आपको किस पर विश्वास रखना चाहिए? सांसारिक संकट जब आपके मस्तक पर मंडरा रहे हों और जब आपका अधिकार दूसरे ने अपहरण कर लिया हो, तब आपको वीतराग भगवान् पर अचल आस्था रखनी चाहिए। आपको उनका निर्णय स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने से आपको विजय होगी। भगवान् वीतराग का आदेश है कि काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर का त्याग करो। आप वीतराग के आदेश पर आस्था रक्खो तो आपका कदापि अकल्याण नहीं होगा, किन्तु कल्याण ही होगा।

जय जय जगत्-शिरोमणि

मुझ पर महर करो चन्द्रप्रभो! जगजीवन अन्तर्यामी ।

यह भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में आगे चलकर यह सरल बात कही है—

जय जय जगत्-शिरोमणि ।

अर्थात्—हे जगत के शिरोमणि! तेरा जयजयकार हो। यों तो यह सरल और साधारण सी बात है, परन्तु गंभीरता के साथ विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस सरल उक्ति में भी अतीव गंभीर रहस्य छिपा है।

जगत् विचित्रताओं से भरा है और जो विचित्रताओं से भरा है वही जगत् कहलाता है। परमात्मा ऐसे जगत् का शिरोमणि है, यह सुन कर किसी के मन में किसी प्रकार की भ्रान्ति भी हो सकती है। इस जगत् में स्वर्ग भी है और नरक भी है। स्वर्ग कैसा है और नरक कैसा है, इन दोनों में कैसी विचित्रता है? फिर भी जगत् में दोनों का समावेश हो जाता है। जगत् के प्राणियों में भी कोई पापात्मा है और कोई पुण्यात्मा है। कोई ऐसा सुखी जान पड़ता है कि स्वर्ग को भी नीचा दिखलाता है और कोई नारकीय वेदना भोगता हुआ घोर दुखी है। कोई ऐसे कार्य करते हैं कि स्वर्ग में रहने वाले भी नहीं कर सकते और इसके विपरीत किसी-

किसी की करतूतों से नारकी जीव भी लज्जित हो सकते हैं। फिर परमात्मा ऐसे विचित्र जगत् का स्वामी कहलाता है। यह बात किस प्रकार समझी जाय? परमात्मा को जानने के लिए कौन सा मार्ग ग्रहण किया जाय?

इस सम्बन्ध मे ज्ञानी जनों का कथन है कि घबराओ मत। जब तुम जगत् के शिरोमणि से भेंटना चाहोगे और भेंटने के लिए प्रबल इच्छा करोगे तो भेंट अवश्य होगी। जब यह जगत् है तो इसका शिरोमणि भी है ही। जब जगत् को देख रहे हो तो उसके शिरोमणि को देखना क्या कठिन है? तुम जगत् के शिरोमणि की शरण मे जाओ। जगत्-शिरोमणि की शरण में जाने पर तुम्हें अनन्य प्रकार की शान्ति प्राप्त होगी।

कहा जा सकता है कि वह जगत्-शिरोमणि दूर है—परोक्ष है। हम उसकी शरण में किस प्रकार जाएँ? इसका उत्तर यह है कि जिसके पैर दिख रहे हैं वह सामने ही है, ऐसा माना जाता है। विद्वानों का कहना है कि जिसका एक अंश दिखाई दे रहा है, उस अंशी का अस्तित्व भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जिसका एक अंग दीखता है, वह प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण भी दिख सकता है।

परमात्मा के विषय में भी यही बात है। नीची स्थिति के लोग अर्थात् दुखी जन परमात्मा के चरण हैं, ऐसा मान

लेने पर परमात्मा पहचाना जा सकता है। किसी दुखी को देख कर यह समझो कि यह परमात्मा का चरण है। इस प्रकार मानते रहने पर तुम परमात्मा को प्राप्त कर सकते हो, दुखी को परमात्मा का पैर मानकर परमात्मा को प्राप्त कर सकने के अनेकों उदाहरण हैं। मेघकुमार को दुखी शशक ने ही मेघकुमार बनाया था और राजा मेघरथ को दुखी कपोत ने ही शान्तिनाथ बनाया था। इस तरह आत्मा को ऊँची स्थिति में चढ़ाने वाले दुखी जीव ही हैं। दुखी या रोगी ही डाक्टर को डाक्टर बनाते हैं। दुनिया में रोगी न होते तो डाक्टर कहां से आते? और उन्हें चिकित्सक कौन कहता? अतएव दुखी जीव को देखकर उन पर करुणा लाना ऊंची स्थिति पर चढ़ने का मार्ग है। इसी मार्ग पर चलने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह मार्ग दयाधर्म भी कहलाता है। दया धर्म का मार्ग ही आत्मा को ऊंची स्थिति पर चढ़ाने वाला और परमात्मा से भेंट कराने वाला है।

संसार दुःखों व्याप्त है। इस में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दुःख बहुत भरे हुए हैं। इस त्रिविध प्रकार के दुःखों में भी आध्यात्मिक दुःख सब से बढ़कर है। इस दुःख ने बड़े-बड़े लोगों को भी घेर रक्खा है। इस आध्यात्मिक दुःख को मिटाने के लिए ही दयाधर्म का मार्ग बतलाया गया है।

अगर दयाधर्म का पालन करने से आध्यात्मिक दुःख की समाप्ति हो जाती है तो साधु इस मार्ग को क्यों नहीं अपनाते हैं? साधु के पात्र में रोटी मौजूद हो और सामने कोई भूखा आदमी आया हो तो साधु अपने पात्र की रोटी भूखे को नहीं देते। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि साधु लोग दयाधर्म का पालन करते हैं? अगर वे दयाधर्म के पालक हैं तो अपने पात्र की रोटी भूखे को क्यों नहीं देदेते? जब वे रोटी नहीं देते तो उन्हें दयालु कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु स्वयं तो रोटी बनाते नहीं हैं, बनी हुई रोटी अपनी भूख मिटाने के लिए गृहस्थ के घर से मांग कर लाते हैं। जब कि वे वह रोटी खुद के लिए मांग कर लाए हैं तो फिर दूसरे को कैसे दे सकते हैं? उन्हें वह रोटी दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। अगर वे अपने लिए लाकर दूसरे को रोटी देदें तो अप्रामाणिक ठहरें और गृहस्थ की दृष्टि में अविश्वास के पात्र गिने जाएं। मान लीजिए—आपको किसी ने दस रुपये इसलिए दिये हैं कि आप इन रुपयों को गोशाला में लगा देना। इसी बीच दस भूखे आदमी आपके सामने आ गये। अब क्या आप उन भूखों को भोजन देने के लिए इन रुपयों का उपयोग कर सकते हैं? ऐसा करने का आपको अधिकार नहीं है

क्योंकि रुपये आपको दूसरे उपयोग के लिए दिये गए हैं। आप उन रुपयों से भूखों को भोजन नहीं दे सकते, सिर्फ इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि आप निर्दय हैं अथवा आप भूखों को भोजन देना बुरा समझते हैं। इसी प्रकार साधु के पास जो भी भोजन है वह स्वयं के लिए ही साधु मांग कर लाया है। साधु के लिए ही देने वाले ने भोजन दिया है, किसी दूसरे को देने के लिए नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में साधु अपने पास की रोटी किसी दूसरे को देने का अधिकारी नहीं है। मगर इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि साधु के दिल में दया नहीं है। साधु का हृदय दया से परिपूर्ण होता है, वह दयाधर्म का पालन भी करता है; फिर भी वह विश्वासघात करके या अप्रामाणिकता का सेवन करके अपना भोजन दूसरों को नहीं देता। अलबत्ता साधु दूसरे प्रकार के दयाधर्म का पालन करता है। इस संबंध में कहा है—

जहा पुन्नस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ;
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुन्नस्स कत्थइ ।

अर्थात्—साधु जिस प्रकार सम्पन्न पुरुष को धर्मोपदेश सुनाता है, उसी प्रकार दरिद्र को सुनाता है और जिस प्रकार दरिद्र को सुनाता है उसी प्रकार सम्पन्न को सुनाता है। साधु को सधन-निर्धन में किसी प्रकार का भेद नहीं रखना चाहिए।

उसे दोनों के प्रति समभावी होना चाहिए। जो धनवान् और निर्धन में भेद करता है वह साधु नहीं है। किसी ने यथार्थ कहा है—

धनवंत को आदर करे, निर्धन को करे दूर।
ते साधु जाणो मती, रोटी तणा मजूर॥

इस प्रकार साधु धर्म का उपदेश देने में किसी के साथ पक्षपात न करे। ऐसा करने पर ही वह साधु कहला सकता है।

कहा जा सकता है कि अगर बिना किसी भेदभाव के साधु धर्मोपदेश देता है तो शास्त्र में राजा आदि को सम्बोधन करके सब बातें क्यों कही गई हैं? इसका उत्तर यह है कि दवा देने वाला पहले उसी को दवा देता है जो ज्यादा रोगी हो इसीके अनुसार साधु जिसके विषय में सोचता है कि इस पर संसार के काम का बोझा ज्यादा है और इसको आध्यात्मिक कष्ट ज्यादा है, उसी को संबोधन करके उपदेश देता है; जिससे उसके साथ ही साथ दूसरों का भी कल्याण हो सके। यद्यपि शास्त्र में जो कुछ कहा गया है वह सारे संसार के लिए है। उससे प्राणी मात्र का समान रूप से हित होता है। फिर भी राजा आदि को संबोधन करने का कारण यह नहीं है कि साधुओं को उनसे किसी प्रकार की आशा रही हो। जिन्होंने उपदेश दिया है उनमें से बहुत-से स्वयं राजा थे और राज्य को उपाधि समझकर, उसे त्याग कर साधु बने

थे। फिर वे राजाओं से क्या आशा रखते ? उन्हें संबोधन करने का आशय सिर्फ यही है कि उन पर सांसारिक कार्यों का बोझा बहुत ज्यादा था और आध्यात्मिक दुःख उन्हें बहुत था। आपके सामने दस स्त्रियां अपने सिर पर खाली घड़े रक्खे खड़ी हों और दस ऐसी हों जिनके सिर पर पानी से भरे घड़े हों। अगर आपको उनका बोझ उतारने का मौका आवे तो पहले किसका बोझ उतारेंगे ? निस्सन्देह अगर आप समभावी हैं तो पहले उनका बोझ उतारेंगे जिनके सिर पर ज्यादा बोझ है। इसी प्रकार राजा आदि में आध्यात्मिकता की ज्यादा कमी देखी, देखा कि वे संसार में ज्यादा फँसे हैं तो उन्हें संबोधन किया।

आपके सामने आपके पिता खड़े हों और एक राजा भी खड़ा हो। ऐसी अवस्था में आप पहले किसे नमन करेंगे ? आप अपने पिता को पहले नमन न करके राजा को ही नमन करेंगे। इसका कारण यह है कि आपका पिता तो सिर्फ आपका पालन करता है और राजा समस्त प्रजा का पालन करता है। महात्मा सब को समान मानते हैं। वे किसी के प्रति भेदभाव नहीं रखते। फिर भी जिस पर ज्यादा बोझ देखते हैं और समझते हैं कि इसके सुधरने से बहुतों का सुधार हो जायगा, उसको संबोधन करके बात कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साधु समान भाव से आध्यात्मिक दुःख

मिटाने रूप दया करते हैं। यह दया करने में वे किसी प्रकार का पक्षपात या भेदभाव नहीं करते। साधु पुरुषों के हृदय से समान रूप से सभी पर दया का अमृत बरसता है।

इस प्रकार परमात्मा से मिलने का मार्ग दुखी जीवों पर करुणा करना है। कदाचित् आप सब पर दया न कर सकें, सब दुखियों की सहायता न कर सकें, तब भी जो दुखी आपके सामने आवे, जिसका दुःख दूर करना आपके सामर्थ्य के बाहर न हो, उसका ही दुःख मिटाओ! उन पर तो करुणा करो। संसार का कोई भी दवाखाना ससार के समस्त रोगियों को दवा नहीं पहुंचा सकता; फिर भी जिस दवाखाने मे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता और आने वाले प्रत्येक प्रत्येक रोगी को दवा दी जाती है, वह सार्वजनिक दवाखाना ही कहलाता है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने हृदय में दया का मार्ग खुला रखता है, जिसके दिल में प्रत्येक दुखिया को स्थान है, वह दयालु ही कहा जाता है। उसके विषय मे यही कहा जायगा कि वह परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

आत्मा, परमात्मा से तभी भेंट सकता है जब वह अपने दुर्गुण आप देखने लगता है और सन्मान पाने की इच्छा का परित्याग कर देता है। जो सन्मान पाने की इच्छा का परित्याग कर देगा वह अपने पाप दूसरे के समक्ष प्रकट भी

कर देगा । अपने पाप दूसरे पर प्रकट कर देने से आत्मा में से पुरस्कार का भाव मिट जायगा और अपुरस्कारभावना उत्पन्न होगी । इस कारण वह अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग मे प्रवेश करेगा । इसके विरुद्ध जहां सम्मान की इच्छा है, वहां अपने पापों को प्रकाशित कर देने की शक्ति का अभाव है । ऐसे व्यक्ति मे अहंभाव होता है । वह प्रशस्त योग मे भी नहीं वर्तता है । जहा पुरस्कारभावना होती है, अप्रशस्त योग रहता है, वहां यह भावना बनी रहती है कि मेरे दुर्गुण प्रकट हो जाएंगे तो मेरी निन्दा होगी । इस प्रकार वह व्यक्ति निन्दा से घबराता है । मगर शास्त्र का कथन है कि निन्दा से घबराने का कोई कारण नहीं है । अवगुण प्रकट कर देने पर निन्दा तो शायद होगी । लेकिन उस निन्दा को सह लेना अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग में प्रयाण करना होगा ।

जितना अन्तर धूल मे और सोने मे, हीरे और कंकर में, अथवा विप और अमृत मे माना जाता है, उतना ही अन्तर प्रशस्त योग और अप्रशस्त योग मे है । अगर धूल देने पर सोना, कंकर देने पर हीरा और विप देने पर अमृत मिलता हो तो कौन लेने को तैयार न होगा ? अप्रशस्त योग धूल, कंकर या विप के समान है । फिर इसे त्याग कर सोने हीरे और अमृत के समान जो प्रशस्त योग है, उसे कौन न

लेना चाहेगा ? अतएव ज्ञानी जनों का कथन है कि निन्दा से घबराओ मत ।

आपके कपड़े पर कोई दाग लगा हो और दूसरा उसे साफ कर दे तो क्या आप उस आदमी पर नाराज होंगे ? इसी प्रकार जिस निन्दा से आत्मा का दुःख मिटता है, उस निन्दा को सुनकर आप बुरा क्यों मानते हैं ? पापों को स्वयं प्रकट कर देने से जो निन्दा होती है, उस से आत्मा के दुःखों का विनाश होता है। भक्त तुकाराम का कहना है कि निन्दक का घर मेरे समीप ही हो तो अच्छा है। वह जब-तब मेरी निन्दा करेगा और उसके द्वारा की हुई निन्दा से मुझे बहुत कुछ जानने को मिलेगा। इससे मेरी अवनति रुकेगी और उन्नति होगी। मेरी आत्मा की अशुद्धि हटेगी और शुद्धि की वृद्धि होगी।

किसी कवि ने राजा से कहा—'आप के शत्रु चिरंजीव हों!' यह विचित्र आशीर्वाद सुनकर राजा नाराज हो गया। दूसरे सुनने वालों को भी इस आशीर्वाद से बुरा लगा। मगर उनमें एक पकी हुई बुद्धि का समझदार आदमी था। उसने राजा से कहा—आप यह आशीर्वाद सुनकर नाराज क्यों होते हैं ? आपको तो प्रसन्न होना चाहिए।

राजा झुंझलाकर कहने लगा—यह तो शत्रुओं के लिए आशीर्वाद दे रहा है! तब उस समझदार आदमी ने कहा—

ऐसा आशीर्वाद देकर कवि ने आपका हित ही चाहा है। जब आपके शत्रु जीवित रहेंगे तो आप मे बल, बुद्धि, पराक्रम और सावधानी जागृत रहेगी। आप सावधानी रखने के कारण ही राजा हैं। राजा को सदा सावधान रहना चाहिए, सावधानी तभी रह सकती है जब शत्रु का भय हो। शत्रु के होने पर ही होशियारी आती है। इस प्रकार कवि ने आपको दुराशीष नहीं वरन् शुभाशीष ही दिया है। कवि ने सूचित किया है कि आप आलसी और भोग के कीड़े मत बन जाना किन्तु बलवान बनना और सावधान रहना। इसमे आपके नाराज होने योग्य कोई बात नहीं है।

यह तो व्यवहार की बात हुई। मैं आपको आध्यात्मिक बात सुना रहा हूँ। लोग कहते हैं—काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि हमको हराते हैं। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि यदि ये हराते न हों तो फिर हमारे उपदेश की भी क्या जरूरत है? इसी प्रकार अगर काम क्रोध आदि हराने का प्रयत्न न करें तो तुम्हारी वीरता का भी पता कैसे लगे? तुम अपनी वीरता किस प्रकार प्रकट करो? लाखों वीरों को जीत लेने वाले वीर की अपेक्षा वह वीर बड़ा है जो काम को जीत लेता है। काम, क्रोध आदि शत्रुओं के होने से ही ऐसी वीरता प्रकट की जाती है। इन शत्रुओं को जीतने के लिए ही अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग मे जाने की आवश्यकता है। और इसी उद्देश्य से उपदेश दिया जाता है।

अकसर लोग अपने विरोधी समझे जाने वाले के विषय में यह सोचते हैं कि यह मेरा अहित या बुरा करता है, लेकिन इसके स्थान पर अगर यह भावना आ जाय कि दूसरा तो मुझे सावधान करता है, अतएव किसी भी समय मैं उसका अहित न चाहूँ, तो इस प्रकार की भावना से वह व्यक्ति भी, जिसे आप अपना विरोधी समझते हैं, अवश्य ही नम्र हो जायगा ।

मतलब यह है कि स्वयं गर्हा करने से अपुरस्कार भाव उदित होगा । लोगों में निन्दा होगी । उस निन्दा को सुनकर जो समभावपूर्वक सहन कर लेगा वह अनन्त कर्मों का घात करेगा ।

भगवान् को 'नमो अरिहंताणं' कहकर नमस्कार किया जाता है । अर्थात् उसे नमस्कार है जिसने शत्रुओं का हनन किया है । जैसे भगवान् ने अनन्त शत्रुओं का घात किया था, उसी प्रकार आप भी अनन्त शत्रुओं का घात करो । आप भी काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जीतो । ऐसा करने से आप भी वैसे ही बन जाएँगे ।

सुदर्शन सेठ के सामने अर्जुन माली मुद्गर लेकर आया था । उस समय सुदर्शन ने यही कहा था कि--'प्रभो ! अब तक मैंने निरपराधी को ही मारने का त्याग किया था-अपराधी को मारने का त्याग नहीं किया था । लेकिन अब

अपराधी को भी मारने का त्याग करता हूँ। नाथ ! मेरी प्रार्थना है, मुझे ऐसी शक्ति दो कि मेरे अन्तःकरण में अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न न हो। इस प्रकार सुदर्शन ने अर्जुन के प्रति रंचमात्र भी द्वेष उत्पन्न नहीं होने दिया और न वैर भाव ही रक्खा। फल यह हुआ कि अर्जुन की शक्तियां स्वतः कुंठित हो गईं। वह स्वयं नम्र हो गया। अगर आपके अन्तःकरण में इसी प्रकार की भवना उत्पन्न हो गई तो निश्चित है कि आपके शत्रु भी आपके पैरों पर पड़े बिना नहीं रहेंगे।

कृष्ण और युधिष्ठिर में भी शत्रुओं के प्रति क्षमा रखने की बात हुई थी। युधिष्ठिर अहिंसा और क्षमा आदि के लिए प्रसिद्ध हैं। कृष्ण से अर्जुन भी कहा करता था और द्रौपदी भी कहा करती थी कि युधिष्ठिर हमारी बात तो नहीं ही मानते हैं, पर आपकी बात भी नहीं मानते। और जब आपको भी नहीं मानते तो हमारी बात तो मानेंगे ही कैसे ? इसके उत्तर में कृष्णजी ने कहा—यह बात गलत है कि युधिष्ठिर मेरी बात नहीं मानते। यह बात दूसरी है कि कभी प्रकट रूप में ऐसा प्रतीत हो कि वे मेरी बात नहीं मानते हैं, मगर वास्तव में देखा जाय तो वे पूरी तरह मेरी बात मानते हैं। संसार में कोई मारकर विजय प्राप्त करना चाहता है, कोई मरकर विजय पाना चाहता है। युधिष्ठिर मरकर विजय प्राप्त

करनेवालों में से हैं और यह मेरी ही बात है। ऐसी दशा में किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे मेरी बात नहीं मानते !

कृष्ण ने अर्जुन से कहा—मैं जानता हूँ कि युधिष्ठिर को स्थूल युद्ध भी करना होगा और सिर पर राजमुकुट भी धारण करना होगा, लेकिन उस दशा में भी यह रहेंगे धर्मराज और अजातशत्रु ही। इनमें से धर्म की भावना कभी नहीं जायगी। अनेक जन्मों के पुण्य का संचय होने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है। युधिष्ठिर पुण्यशाली हैं, इसी कारण उन्हें यह स्थिति प्राप्त है।

यों तो संसार में स्थूल युद्ध अर्थात् मारकाट करनेवाले लोगों का भी मार्ग चलता है लेकिन इस मार्ग के साथ ही मरकर विजय चाहनेवालों का अर्थात् अर्हन्त का मार्ग भी चलता ही है। बीच-बीच में कोई न कोई महात्मा ऐसा उत्पन्न होता रहता है जो अपने को इस मार्ग का मुसाफिर बनाता है और जगत् में अपनी असाधारण विजय की महत्ता स्थापित कर जाता है। यह मार्ग महान् मंगलकारी है। विश्व के लिए आशीर्वाद है। कल्याण की कामना है तो परमात्मा के इस पथ पर चलो।

गांधी जी

श्री सुबुधि जिनेश्वर वन्दिये रे ।

यह श्री सुबुद्धिनाथ भगवान की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह बतलाया गया है कि भगवान् सुबुद्धिनाथ सुबुद्धिनाथ किस प्रकार हुए ? भगवान् सुबुद्धिनाथ को भगवान् पद प्राप्त करने में जो विघ्न था या जो अन्तराय बाधक हो रहा था, भगवान् ने उसे दूर किया था। उसे दूर करने पर भगवान् सुबुद्धिनाथ का आत्मधर्म प्रकट हुआ था। प्रार्थना में कही गई बात को सुनकर यह विचार स्वतः उत्पन्न होता है कि-- हे प्रभो ! तेरे और मेरे बीच में केवल इतनी ही दूरी है कि तू ने तो विघ्नों को दूर कर दिया है और मैं उन्हें अभी तक दूर नहीं कर सका हूँ। तेरे और मेरे बीच में सिर्फ इतना ही अन्तर है। सिर्फ इतना ही पर्दा है। इतनी सी दूरी के कारण मैं आपसे दूर पड़ा हूँ।

हम और आप यह तो समझ गये कि आत्मा और परमात्मा में इतना ही अन्तर है और सिर्फ विघ्नों के दूर होने और न होने का ही पर्दा बीच में है। मगर प्रधान प्रश्न यह है कि अब हमें करना क्या चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि अगर हम भगवान् से भेंट करना चाहते हैं तो

हमें बीच का पर्दा हटा देना चाहिए। विघ्नों-अन्तरायों को दूर कर देना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जायगा अर्थात् पर्दे को नहीं हटाया जायगा तब तक परमात्मा से भेंट कैसे हो सकती है ? अगर कोई इस पर्दे को हटाने का प्रयत्न नहीं करता तो यही कहा जायगा कि वह परमात्मा से भेंट नहीं करना चाहता।

संसार में सब से बड़ी जो भूल हो रही है, वह यही है कि जो वस्तुएँ परमात्मा से भेंट करने में विघ्न रूप हैं, उन्हीं वस्तुओं को लोग हितकारी समझते हैं। इस भूल के कारण आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी बढ़ती चली जाती है। अगर आप इस दूरी को खत्म करना चाहते हैं तो इस पद्धति को पलट दीजिये और सच्ची वस्तु प्राप्त कीजिये।

भगवान् सुबुद्धिनाथ का 'सुबुद्धिनाथ' नाम केवली पद प्राप्त करने से पहले का है—बाद का यह नाम नहीं है। केवली पद प्राप्त करने के बाद तो उनके अनन्त नाम हो गये हैं। हम लोग अपनी क्षुद्र बुद्धि का सदुपयोग नहीं करते वरन् दुरुपयोग करते हैं। अपनी बुद्धि के सहारे ऐसा तर्क-वितर्क करते हैं जिसका करना उचित नहीं है। इस प्रकार हम भगवान् को प्राप्त करने के मार्ग में कांटे बिखेर लेते हैं। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने पर बुद्धि का दुरुपयोग मिट-

जायगा और सुबुद्धि प्रकट होगी । अतएव अपनी बुद्धि को सुबुद्धि बनाने के लिए भगवान् की शरण में जाना उचित है।

कहा जा सकता है कि यह तो सभी चाहते हैं कि हमारी दुर्बुद्धि मिट जाय और सुबुद्धि का प्रकाश हो, लेकिन ऐसा होता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश से जो पानी गिरता है, वह तो सर्वत्र समान ही होता है परन्तु पात्र उसे अपने अनुसार ही ग्रहण करता है । इसी प्रकार भगवान् की दृष्टि में तो शुद्ध स्वरूप से सभी जीव समान हैं लेकिन विकारों के कारण अपनी बुद्धि में विचित्रता को मिटाने के लिए ही भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने की आवश्यकता है । बुद्धि में विचित्रता किस तरह आ रही है, इस संबंध में विचार करने की आवश्यकता है ।

' परस्पर विवदमानानां शास्त्राणां
' अहिंसा परमो धर्मः ' इत्यैक्य वाक्यता । "

इसका अर्थ यह है कि और मतभेद तो बहुत हैं मगर अहिंसा परमधर्म है, इस विषय में किसी का भी मतभेद नहीं है । अहिंसाधर्म सभी को मान्य है, ऐसा होने पर भी धर्म के नाम पर कितनी खूनखराबी हुई है ! जहां धर्म के नाम पर इस प्रकार खूनखराबी हो यानी हिंसा हो, समझना चाहिए कि वहां वास्तविक धर्म नहीं है । वहां धर्म के नाम पर ढोंग किया जाता है । सच्चा धर्म अहिंसा है और अहिंसा के कारण न कहीं लड़ाई हुई है और न हो ही सकती है । अहिंसा

सत्य आदि के कारण न कभी लड़ाई होती है और न इनके पालन करने में किसी का मतभेद है। फिर भी इनके या धर्म के नाम पर जो लड़ाई की जाती है वह केवल अपने हृदय के विकारों के ही कारण की जाती है। अपने हृदय के विकारों को ही धर्म का नाम दिया जाता है और फिर लड़ाई की जाती है। इस स्थिति को देखकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे समय पर व्यक्ति को स्वातन्त्र्य का विचार करना चाहिए। व्यक्तिस्वातन्त्र्य के बिना धर्म नहीं टिक सकता। कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि परस्पर लड़ो और एक दूसरे को दुःख पहुँचाओ। फिर भी धर्म के नाम पर जो दूसरे को दुःख देता है वह धर्म को नहीं जानता है। इस प्रकार बुद्धि में विचित्रता आ रही है। इसे मिटाने के लिए सुबुद्धिनाथ की शरण में जाना चाहिए। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने से बुद्धि की विचित्रता मिट जायगी।

लोग मुझे अहिंसाधर्म का प्रचारक कहते हैं पर वास्तव में मैं अहिंसाधर्म का सेवक हूँ। अहिंसाधर्म के प्रचार की योग्यता मुझ में अभी नहीं आई है। मेरे भीतर जो विकार मौजूद हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। कोई कह सकता है कि अगर मुझ में विकार मौजूद हैं तो मैं अहिंसाधर्म का उपदेश क्यों देता हूँ ? इसका उत्तर यही है कि ऐसा करने में भी मैं अपनी आत्मा का हित देखता हूँ। अपने विकारों को जीतने

का यह भी एक मार्ग है। मैं इतने श्रोताओं के समक्ष जो कुछ कहता हूँ—श्रोताओं को जिस कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता हूं, मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं स्वयं उसका पालन करूं। अगर मैं ऐसा न करूं, मैं जो कहता हूं उसमें अपने आपको न लगाऊं और विपरीत ही व्यवहार करूं तो यह उलटे मार्ग पर चलना होगा। अतएव मैं भगवान् की शरण में जाकर प्रार्थना करता हूं कि मेरी बुद्धि में किसी समय विकृति न आवे और मैं जैसा दूसरों के सामने बोलता हूँ, उसी के अनुसार स्वयं भी व्यवहार करूं। प्रत्येक मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि में किसी भी क्षण विकृति न आने दे और भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण से अपनी बुद्धि को सदा निर्मल रक्खे। भले ही ऐसा करने में कितने ही सङ्कट क्यों न आवें।

प्राचीन काल के पुरुषों के अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि घोर संकट आने पर भी उन्होंने अपनी बुद्धि को स्वस्थ रक्खा था। बुद्धि में किसी प्रकार का विकार नहीं आने दिया था। उन उदाहरणों को देखकर कोई खयाल कर सकता है कि वास्तव में ही ऐसी घटना घटी है या यह केवल कल्पना ही है? लेकिन जब वर्त्तमान में भी उन उदाहरणों की पुनरावृत्ति—आंशिक रूप में या पूर्ण रूप में—दिखाई देती हो तो मानना ही चाहिए कि पहले के उदाहरण काल्पनिक नहीं। वे वास्तविक

हैं। वर्त्तमान के उदाहरणों से यह विश्वास होता है कि पूर्वकाल के उदाहरणों में जिन बातों का उल्लेख मिलता है, उनमें असत्य नहीं है उदाहरणार्थ—अहिंसा, सत्य आदि के विषय में जो पूर्वकालीन वृत्तान्त हमारे समक्ष हैं, उनकी सचाई समझने के लिए वर्त्तमान में गांधीजी प्रमाण रूप हो जाते हैं।

गांधीजी का जन्म पोरबंदर में हुआ था। मैंने पोरबंदर देखा है और वहां के राजा भी मेरा व्याख्यान सुनने आये थे। पोरबंदर के राजा साहब से बातचीत करने पर मालूम होता है कि गांधीजी के विचारों की छाप उन पर लगी है। वह अपने राज्य में गांधीजी के विचारों के अनुसार सुधार करने के लिए उत्सुक हैं। वे देश-हित के कामों का प्रचार करनेवाले लोगों को प्रचार करने का अवसर देते हैं। मेरी मौजूदगी में वहां डाक्टर पट्टाभी सीतारामैया भी आये और उनका सार्वजनिक सभा में भाषण हुआ। सभा में भाषण देने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ी, जैसी कि कई दूसरी रियासतों मे उठानी पड़ती हैं। इससे पोरबंदर मे गांधीजी के प्रभाव के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो जाती है।

आज गांधीजी की जन्मतिथि है। साधु किसी की जन्म तथि नहीं मनाते हैं, लेकिन आज मैं बतलाना चाहता हूँ कि गांधीजी ने अहिंसा के प्रभाव को किस प्रकार प्रकट किया है?

पंजावकेसरी लाला लाजपतराय का जन्म जैन परिवार में हुआ था। उनके दादा या किसी दूसरे पूर्वज ने साधुमार्गी समाज में ही दीक्षा भी ली थी। लेकिन लाला लाजपतराय को कोई ठीक तरह जैन सिद्धान्त समझाने वाला नहीं मिला। अतएव उनके विचारों में परिवर्त्तन हो गया और वे आर्य-समाजी वन गये। मगर आर्यसमाज से भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। वे कहने लगे—तलवार के वल के बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा कि जैनों और बौद्धों की अहिंसा ने देश को कायर बना दिया है। जब तक यह कायरता नहीं मिटेगी, देश का कल्याण नहीं होगा।

इस प्रकार लाजपतराय अहिंसा के विरोधी हो गये। जब गांधीजी ने अहिंसा का प्रचार आरंभ किया तब उन्होंने गांधीजी को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा कि देश पहले ही कायर बना हुआ है। आप अहिंसा का उपदेश देकर उसे इस समय और अधिक कायर क्यों बनाते हैं जब कि उसमें कुछ जागृति आई है। गांधीजी ने लालाजी के पत्र का उत्तर दिया और कहा जाता है कि लम्बे अर्से तक दोनों के बीच पत्रव्यवहार होता रहा। अन्त में लालाजी, गांधीजी के उत्तर से प्रभावित हो गये। उन्होंने बंबई में गांधीजी और डाक्टर एनी बीसेंट आदि के समक्ष खुले हृदय से कहा कि इतने लम्बे समय के पत्रव्यवहार के पश्चात् मैं स्वीकार करता

हूँ कि सत्य और अहिंसा की शक्ति महान् है और मैं उस शक्ति को मस्तक झुकाता हूँ।

लाला लाजपतराय दिमागदार आदमी थे। उस समय भारत में लाल, बाल (बाल गंगाधर तिलक) और पाल (विपिनचन्द्र पाल) प्रसिद्ध थे। उन लाला लाजपतराय से भी गांधीजी ने अहिंसा का महत्त्व स्वीकार करा लिया। अहिंसा का परिणाम तत्काल दिखाई नहीं देता किन्तु हिंसा का परिणाम तत्काल दिखाई देता है। इसलिए आम तौर पर राजनीति में हिंसा को ही स्थान दिया जाता है। लेकिन गांधीजी ने अपने असाधारण बुद्धिकौशल से, अपनी पारदर्शिनी प्रतिभा से अहिंसा के प्रबल सामर्थ्य को देख लिया और इस कारण उन्होंने राजनीति में भी उसे स्थान दिया। गांधीजी राजनीति को जीवननीति से सर्वथा भिन्न करके नहीं देखते। वह तो जीवननीति का ही एक अंग है। और जब जीवननीति में अहिंसा की आवश्यकता है तो राजनीति में अहिंसा अलग कैसे रह सकती है ? मगर सारा संसार जब हिंसात्मक राजनीति में डूबा हो तब राजनीति में अहिंसा को दाखिल कर देना कितना कठिन कार्य है ? फिर भी गांधीजी ने यही किया। कठिनाइयों पर विजय पाना तो उनके जीवन का मूल-मंत्र ही है।

बंगाल के रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'कवि सम्राट्' की पदवी

प्राप्त है। भारत में ही नहीं, सम्पूर्ण संसार में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। उनके और गांधीजी के कतिपय विचारों में भले मतभेद रहे मगर गांधीजी के अहिंसा के गुण को वे भी मस्तक ही झुकाते हैं। इससे आप को यह सीखना चाहिये कि आपमें आपस में किसी प्रकार का मतभेद भले ही हो, पर अहिंसा के विषय में तो किसी प्रकार का मतभेद नहीं होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब अमेरिका गये तब वहां के लोगों ने उनसे कहा—हम भारत के गांधी की बड़ी प्रशंसा सुनते हैं। आपने तो उन्हें देखा होगा। आप उनके सबंध में अपने विचार प्रकट कीजिये। रवि बाबू ने कहा—मैंने गांधीजी को देखा तो है, मगर जिस रूप मे मैंने उन्हें देखा है, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। गांधीजी की प्रशंसा उनके शरीर के कारण नहीं है। शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होने पर भी वे महान हैं।

भूतवादी लोग सब करामात भूतों की ही मानते हैं। इस दृष्टि से जिसका शरीर महान् हो उसी को महान् होना चाहिए और जिसका शरीर दुर्बल हो उसे तुच्छ होना चाहिए। मगर गांधीजी का उदाहरण भूतवादियों की मान्यता को गलत प्रमाणित करता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा—गांधीजी शरीर से बहुत दुर्बल दिखाई देते हैं, मगर उनमें तीन बातें ऐसी हैं जिनके कारण वे महान माने जाते हैं और वे बातें उनकी महत्ता को प्रकट करती हैं। पहली बात यह है कि उनमें

निर्भयता है। मैं कवि सम्राट् कहलाता हूं, फिर भी यदि कोई व्यक्ति छुरा लेकर मुझे मारने आयगा और मैं जान पाऊँगा तो बिना भागे नहीं रहूँगा। मेरे हृदय में भय का संचार होगा। लेकिन कोई गांधीजी को मारने के लिए छुरा लेकर उनके सामने जायगा तो उस समय वे ऐसे प्रसन्न होंगे, जैसे पहले नहीं थे।

कवि सम्राट् फिर कहने लगे—'गांधीजी में दूसरी विशेषता सत्य पर दृढ़ता है। अगर अमेरिका की समस्त सम्पत्ति उनके समक्ष रख दी जाय और उनसे सत्य का परित्याग करने के लिए कहा जाय तो गांधीजी उस विशाल सम्पत्ति को ठुकरा देंगे, मगर सत्य का परित्याग नहीं करेंगे।'

मित्रो! गांधीजी इतनी सम्पत्ति मिलने पर भी सत्य को नहीं त्याग सकते। लेकिन आप लोगों मे कोई ऐसा तो नहीं है जो चार-आठ आने के लिए सत्य को छोड़कर झूठ का सहारा लेता हो? अगर कोई ऐसा है तो उसे अपने कार्य के लिए पश्चाताप करना चाहिए और भविष्य के लिए सावधान होना चाहिए। भीलों के विषय में कहा जाता है कि वे शपथ खा जाने के बाद, मौत से बचने के लिए भी झूठ नहीं बोल सकते। ऐसी दशा में आप शिक्षित और संस्कारी होने का दावा करते हुए भी अगर शपथ खाकर झूठ बोलें तो कितना अनुचित है?

सत्य के प्रति गांधीजी की दृढ़ता के आधार पर यह भी सोचा जा सकता है कि जब आज भी इतना सत्य विद्यमान है तो अरिहंतों के समय में पूर्ण सत्य हो तो क्या आश्चर्य है ? कामदेव श्रावक के सामने घोर भय उपस्थित किया गया था, फिर भी उसने सत्य नहीं छोड़ा था । सीता को बेहद प्रलोभन दिये गये थे, मगर उसने सत्य का परित्याग नहीं किया था । गांधीजी मे सत्य के प्रति जो दृढ़ता है, उसे देखते हुए प्राचीन काल की इन घटनाओं को कैसे असत्य कहा जा सकता है ? इस गये-गुजरे जमाने मे भी जब गांधीजी जैसे सत्यभक्त मौजूद हैं तो पूर्व समय मे कामदेव जैसे श्रावकों के सत्य पर अटल रहने में कैसे शंका की जा सकती है ?

आगे कहते हुए कवि सम्राट् बोले—'गांधीजी मे ऐसी प्रामाणिकता है कि उन्हें कितनी ही सम्पत्ति क्यों न दी जाय, उसे वे उसी काम मे लगाएँगे जिस काम के लिए वह दी गई होगी । वे उस सम्पत्ति मे से अपने लिए एक भी पैसा नहीं खर्चेंगे ।'

एक ओर गांधीजी मे इतनी प्रामाणिकता है और दूसरी ओर क्या देखा जाता है ? कई लोग अपने पास जमा धर्मादा खाते की रकम में से कुछ देकर कीर्त्ति उपार्जन करते हैं । इतना ही नहीं, बहुत-से लोग तो धर्मादे की ही रकम हजम कर जाते हैं । ऐसे लोगों को क्या गांधीजी की प्रामाणिकता से

शिक्षा नहीं लेनी चाहिए ?

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ने गांधीजी के संबंध में जो कुछ कहा, उसे सुनकर अमेरिका के बड़े-बड़े पादरियों ने कहा— 'जब गांधी ऐसा है तो कहा जा सकता है कि संसार में सबसे बड़ा पुरुष महात्मा गांधी ही है ।' इस प्रकार गांधीजी के गुणों से प्रभावित होकर लोगों ने स्वीकार किया कि गांधीजी संसार के सबसे बड़े पुरुष हैं ।

रवि बाबू ने गांधी जी की कतिपय विशेषताओं का ही जिक्र किया है । उनमें और और जो गुण हैं, उनके विषय में तो वही पूरी तरह कह सकता है जिसने सन्निकट रहकर अभ्यास किया हो । फिर भी कहा जा सकता है कि गांधीजी में कुछ गुण ऐसे हैं जो उनका महत्त्व बढ़ाते हैं और जो सब के लिए अनुकरणीय भी हैं । उनमे कितना सेवा भाव है, इस संबन्ध में श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है । श्रीनिवास शास्त्री नरमदल के नेता हैं और राजनीतिक विषयों में गांधीजी से उनका मतभेद भी रहता है। श्रीनिवास शास्त्री ने सन् १९१४ में यूरोप में देखा कि गांधीजी उन लोगों को भी अपने हाथ से पट्टी बांध रहे हैं जो कोढ़ आदि भयंकर, घृणास्पद और छूत को बीमारियों से पीड़ित हैं । यह देखकर शास्त्रीजी का हृदय पलट गया और उन्हें पश्चाताप हुआ कि मैं ऐसे सेवा-भावी पुरुष की अवज्ञा करके अपराध कर रहा हूँ ।

गांधीजी तो इस तरह के लोगों की सेवा करते हैं लेकिन आप लोग अपने घर के लोगों की या अपने सहधर्मियों की भी सेवा करते हैं या नहीं ? किसी को दुःखी देखकर यह तो नहीं कहते कि यह तो अपने कर्मों का फल भोग रहा है ! हमें इससे क्या सरोकार-ऐसा कहना अपनी वाणी का दुरुपयोग करना है। हाथी के भव में मेघकुमार ने कहा होता कि यह खरगोश तो अपने कर्मों का फल पाता है, तो क्या वह मेघ-कुमार हो सका होता ? क्या भगवान् उसके विषय में ऐसा कहते कि—मेघकुमार ! तुमने शशक पर दया की थी, इस कारण तुम मेघकुमार—श्रेणिक के पुत्र हुए हो ! अतएव जब कभी कोई दुःखी प्राणी दृष्टिगोचर हो तो सोचना चाहिए-यह अपने कर्मों का फल भोग रहा है, लेकिन हमें इसकी सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार करने से ही सेवाभावना कायम रहती है। शास्त्र का यही आदेश है कि स्वयमेव सेवा करने की भावना रक्खो। शास्त्र का तो यह आदेश है किन्तु आप लोगों को दूसरों की सेवा करना बहुत कठिन जान पड़ता है। गांधीजी जैसी महिमा आपको मिले तो आप फौरन उसे लेने के लिए तैयार हो जाएँगे, लेकिन गांधीजी की तरह सेवा करने के लिए कितने लोग तैयार हैं ? गांधीजी का सेवाभाव देखकर उनके विरोधी का भी हृदय पलट गया और वह उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो गया।

जैनशास्त्र में क्षमा को सबसे बड़ा गुण कहा है। इस

प्रकार के यतिधर्मों में क्षमा को पहला स्थान दिया है। साथ ही क्षमा कैसी होना है और वह किस सीमा तक रक्खी जा सकती है, यह बतलाने के लिए गजसुकुमार मुनि का उदाहरण भी दिया गया है। कहा जा सकता है कि जरा सा बिच्छू काटने का कष्ट सहना भी कठिन हो जाता है। तो मस्तक पर जलने वाली आग के दुःख को किस प्रकार सहन किया गया होगा? लेकिन आज क्षमा के जो उदाहरण सुने जाते हैं, उन पर से इस प्रकार का संदेह मिट जाता है और ऐसा संदेह रखने वालों को भी मानना पड़ता है कि जब इस समय भी ऐसी अपूर्व क्षमा करने वाले पुरुष मौजूद हैं तो प्राचीन काल में सिर पर जलनेवाले अंगारों से न घबराकर अगर गजसुकुमार मुनि ने क्षमा रक्खी तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

गांधीजी में क्षमावृत्ति कैसी है, इस संबंध में एक उदाहरण सुना गया है। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का युद्ध छेड़ा था। उस समय एक पठान को यह संदेह हो गया कि गांधीजी ने हमें तो सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह में लगा रक्खा है आप स्वयं सरकार से मिल गया है! ऐसा सन्देह होने पर पठान को बहुत क्रोध आया। उसने सोचा—अगर गांधी मुझे मिल जाय तो उसे जिंदा नहीं रहने दूंगा।

सचमुच एक दिन गांधीजी पठान को मिल गये। उसने गांधीजी को उठाकर गटर में डाल दिया। गांधीजी को चोट

आई और वे वेहोश हो गये। उनके मित्र उन्हें अस्पताल में ले गये। जब वे होश में आए तो उन्होंने पूछा—बात क्या है ?

मित्रों ने कहा—अमुक पठान ने आपको गटर में फेंक दिया था। आपको अमुक-अमुक जगह चोट आई है। आप जरा अच्छे हो जाइये, तब उस पर मुकदमा चलाया जायगा।

उस समय गांधीजी ने कहा—मैं अपने एक भाई पर मुकदमा चलाऊँ यह कैसे संभव हो सकता है ? मेरे हृदय मे क्षमाभाव है या नहीं, इस बात की कसौटी हुई है। गन्ना जब खेत मे रहता है तब भी मीठा रहता है, पेरा जाता है तब भी मीठा रहता है, उबाला जाता है तब भी मीठा रहता है और जब गुड़ या शक्कर बनता है तब भी मीठा रहता है। वह अपने स्वभाव को किसी भी हालत में नहीं छोड़ता। ऐसी दशा में मैं अपने भाई पर कैसे मुकदमा चला सकता हूँ ? चलो, उस भाई के पास चलें और इस कसौटी पर कसने के लिए उसका उपकार मानें।

गांधीजी उस पठान के पास पहुँचे। उनकी बातें सुनकर पठान का हृदय पलट गया। वह पश्चाताप करने लगा कि लोगों ने मुझे भ्रम में डाल दिया और इसी कारण से भयानक अनर्थ कर बैठा ! इस प्रकार पश्चाताप करके वह गांधीजी के पैरों में गिर पड़ा और क्षमा मॉगने लगा।

अगर गांधीजी उस पठान पर मुकदमा चलाते तो पठान के

हृदय में वैसा परिवर्तन न होता जो उदारतापूर्ण क्षमाभाव प्रदर्शित करने के कारण हुआ।

गांधीजी ने उस पठान पर भी मुकदमा नहीं चलाया, लेकिन लोग अपने सगे भाई पर भी मुकदमा चलाने से बाज नहीं आते! क्या आप में कोई ऐसा है जो अपने भाई पर अदालत में मुकदमा चलाने का त्याग करने को तैयार हो? जिन हाकिमों के सामने भाई भाई के मुकदमे आते हैं, वे इस विचार से और अधिक शिक्षा ले सकते हैं कि संसार में किस तरह की आग लग रही है! यहां भाई भाई का दुश्मन बन जाता है!

गांधीजी की क्षमा के उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि जब इस काल में भी इस तरह क्षमा करने वाले मौजूद हैं * तो भगवान नेमिनाथ के समय में गजसुकुमार सरीखे

* *गांधीजी का जीवन ज्यों-ज्यों अग्रसर होता गया, उनकी क्षमाभावना बढ़ती गई। अन्तिम दिनों वह इतनी बढ़ गई थी कि बम फेंक कर अपने प्राण लेने की चेष्टा करने वाले पुरुष को भी क्षमा कर दिया था और उसे दण्ड न देने के लिए सरकार से अपील की थी। गांधीजी को अवकाश मिलता तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे अपने हत्यारे को भी क्षमा कर देने की अपील करते।*

—सम्पादक

क्षमामूर्त्ति महापुरुष हों तो क्या आश्चर्य है !

गांधीजी की दया के सम्बन्ध में भी एक घटना सुनी है। दया का पात्र प्रायः दुर्गुणी होता है। जिसे जगत् के सामान्य लोग दुत्कारते हैं, दयालु उस पर भी दया करते हैं। आज के बहुत-से लोग मुंह से दया-दया तो कहते हैं मगर दया के खातिर करते कुछ नहीं हैं। लेकिन गांधीजी ने दया के लिए क्या किया, यह ध्यान देने योग्य बात है। गांधीजी एक बार गन्तूर गये थे वहां वेश्याओं ने भी एक सभा का आयोजन किया और गांधी जी से मिलने का विचार किया। गांधीजी ने कहा—वे भी मेरी बहनें हैं, इसलिए प्रसन्नता से मिल सकती हैं। वेश्याएँ उनसे मिलने गईं। गांधीजी ने वेश्याओं के वस्त्र देखकर उनसे कहा—बहिनों ! तुम ऐसे गन्दे वस्त्र तो मत पहना करो। वेश्याओं ने कहा—आप इन वस्त्रों को गन्दे कहते हैं, लेकिन हमारे पास यही वस्त्र हैं-दूसरे वस्त्र ही नहीं हैं।

वेश्याओं का यह उत्तर सुनकर गांधीजी ने सोचा—मेरी यह बहिनें ऐसा नीचा धंधा करती हैं, फिर भी इन्हें पूरी तरह वस्त्र नहीं मिलते। तो दूसरे गरीब भाइयों की क्या दशा होगी ? उन्हें ऐसे भी वस्त्र प्राप्त न होते होंगे ! इस प्रकार विचार कर उन्होंने सब कपड़े त्याग दिये। तब से वे एक लंगोटी और एक चादर में ही रहने लगे।

यह दया का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है ? आप तो दया के लिए चर्बी के वस्त्र भी नहीं त्याग सकते ! अगर आप दयाधर्म का पालन करें तो आपका भी कल्याण हो और दूसरों का भी कल्याण हो । आपको मिल में बने और चर्बी लगे हुए वस्त्रों की अपेक्षा खादी में अधिक खर्च भले जान पड़ता हो, मगर आपको यह भी सोचना चाहिए कि खादी के निमित्त खर्च किया हुआ प्रत्येक पैसा देश के गरीब भाइयों के पास ही पहुंचता है । इसके विपरीत मैंचेस्टर के मलमल में लगा हुआ पैसा विदेशों में जाता है और उस से गरीब देश वासियों की रोटी मारी जाती है । अंगरेज लोग अपने देश की चीजों का बहुत ख्याल करते हैं और कई गुनी कीमत चुकाकर भी अपने ही देश की चीज खरीदते हैं । ऐसा न करना उन्हें देशद्रोह मालूम होता है । क्या स्वदेशी वस्तुओं की उपेक्षा करके विदेशी वस्तुएँ खरीद करके आप देशद्रोह के भागी नहीं होते ?

यह तो निश्चित है कि खादी के लिए जो ज्यादा पैसे देने पड़ते हैं वे गरीब देशबन्धुओं के पास पहुंचते हैं और मिल के वस्त्रों के पैसे विशेषतः विदेशी पूंजीपतियों के पल्ले पड़ते हैं । एक बार किसी ने बतलाया था कि मद्रास के राजगोपालाचार्य ने खादी के प्रयोग का एक कारखाना खोला था । उस कारखाने के द्वारा १५८ ग्रामों के गरीबों का दुष्काल के समय गुजारा चला । इस प्रकार छोटे-छोटे कार्यों द्वारा भी गरीबों

की किस प्रकार सहायता की जा सकती है, इस बात पर विचार करो और खादी तथा मिल के वस्त्रों में होने वाले आरंभ-समारंभ का भी विचार करो और देखो कि अल्प आरंभ किसमे है और महारंभ किसमें है ? तब आपको मिल के और खादी के वस्त्रों का अन्तर प्रतीत हो जायगा। खादी पहिनने के कारण आज आपको कुछ असुविधा भी उठानी पड़ती हो तो भी परवाह मत करो। आखिर तो यह अल्पारंभी ही परमात्मा के सन्निकट माने जाएँगे। अब खादी पहनने में शारीरिक कष्ट भी तो नहीं है, क्योंकि खादी भी अच्छी से अच्छी बनने लगी है। पहले इस देश में बहुत बढ़िया कपड़ा बनता था। कहते हैं कि ढाके की मलमल का सात सौ रुपये का थान बिकता था। यूरोप की स्त्रियां भी ढाके की मलमल पहनने के लिए ललचाती थीं और जो पहनती थीं वे गर्व का अनुभव करती थीं। इतिहास के अनुसार ढाके के इस व्यवसाय को बड़ी बेरहमी के साथ खत्म किया गया। यहां तक कि मलमल बनाने वाले लोगों के अंगूठे भी कटवा लिये गये। यह निर्दयता मिल के चर्बी वाले वस्त्रों के लिए ही की गई थी !

मतलब यह है कि गांधीजी ने दया से प्रेरित होकर, वेश्याओं के कपड़े देखकर अपने वस्त्र सीमित कर लिए। गांधीजी ने तो इतना त्याग किया लेकिन आप क्या चर्बी लगे वस्त्रों का भी दया के खातिर त्याग नहीं कर सकते ?

चर्बी के कपड़े का विचार अव्रत (महारंभ) की क्रिया की दृष्टि से भी विचारणीय है। मेंचेष्टर में बना हुआ कपडे का एक टुकड़ा भी पहनने से मेचेष्टर की अव्रत की क्रिया लगती है या नहीं ? इतना होने पर भी आप चर्बी लगे मिल के वस्त्र त्यागने को तैयार नहीं है ?

गांधीजी के हृदय में कितनी दया है, इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और लीजिये। सुना है कि राजकोट के ठाकुर साहब लाखाजीराज गांधीजी पर सद्भाव रखते थे। गांधीजी जब राजकोट गये तो लाखाजीराज ने उन्हें मानपत्र देने का विचार किया। और इसके लिए पेरिस से एक सुन्दर संदूक बनवाकर मँगवाया। उसमें रखकर गांधीजी को मानपत्र दिया जाना था। संदूक बहुत सुन्दर था, लेकिन जिसके हृदय में महाभाव होता है वह दूसरों के पाप को भी अपना पाप मानता है। बेटा जब रोगी होता है तो बाप भी इसके लिए अपना अभाग्य समझता है। साधारण लोग अपने बेटे को ही बेटा मानते हैं, लेकिन जिसकी भावना विशाल और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की होती है, वह दूसरे के पापों के लिए भी अपने को उत्तरदायी समझता है।

गांधीजी ने राजकोट में ही शिक्षा पाई थी और वहीं पर साधुमार्गी जैन महात्मा बेचरजी स्वामी के समक्ष मदिरा मांस और परस्त्री सेवन का त्याग किया था। गांधीजी ने इन

प्रतिज्ञाओं का बड़ी दृढ़ता के साथ पालन किया। अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर भी उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाओं को निबाहा।

मेरे संबध में कहा जाता है कि मैं दूसरा त्याग करने-कराने के लिए तो बहुत कहता हूँ मगर लीलोत्तरी (वनस्पति) जमीकन्द आदि के त्याग के लिए कम कहता हूँ। पूज्य श्री-श्रीलालजी महाराज इसके संबध में बहुत कहा करते थे। मेरे विषय में ऐसा कहा जाता है किन्तु आज जिस तरह के बड़े-बड़े पाप फूट निकले हैं, वैसे पहले नहीं थे। ऐसी दशा में पहले बड़े पाप का त्याग कराया जाय या छोटे पाप का इस समय जमीकन्द त्यागने का उपदेश दूँ या चर्बी लगे मिल के वस्त्रों के त्याग का उपदेश दूँ? पहले बड़े पापों के त्याग का उपदेश देना अधिक लाभदायक होता है। बड़े पापों की ओर ध्यान न देकर छोटे पापों को मिटाने का प्रयत्न करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

लालाजीराज पेरिस से बनकर आये हुए संदूक में गांधीजी को मानपत्र देने लगे? उस समय गांधीजी ने कहा—मेरे लाखों भाई तो रोटी के बिना दुःख पा रहे हैं, फिर मुझे इस प्रकार के संदूक में रखकर मानपत्र देना क्या मेरी हँसी कराना नहीं है? मेरे घर में इस संदूक को रखने की जगह भी तो नहीं है! गांधीजी का यह उदारभाव कितना सराहनीय है?

गांधीजी की सादगी का तो क्या बखान किया जाय?

उनके विचार में और आचार में स्पृहणीय सादगी है। उनका भोजन, लिबास आदि सभी कुछ आपके समक्ष आदर्श सादगी का नमूना पेश करते हैं। वास्तव में जहां दयालुता होती है वहीं ऐसी सादगी रह सकती है। श्रीमताई का आडम्बर त्यागे बिना न दया आती है, न सादगी आती है। इसलिए गांधीजी ने श्रीमंताई का ठाठ त्यागा है, अन्यथा वे श्रीमंत की तरह भी रह सकते थे। उनके लड़के ने उन्हें पत्र लिखा था कि आप बड़े आदमी माने जाते हैं, आप बैरिस्टर हैं और बुद्धिमान् हैं। अतएव किसी ऐसे व्यवसाय की बात सोचिये जिससे अपन श्रीमंत बन जाएँ। इस पत्र का उत्तर देते हुए गांधीजी ने लिखा था कि मैं सुदामा और नरसी मेहता से भी ज्यादा गरीब बनना चाहता हूँ। तुम ज्यादा श्रीमंत बनना चाहते हो और मैं ज्यादा गरीब बनना चाहता हूँ। ऐसी स्थिति में मेरा और तुम्हारा मेल कैसे बैठ सकता है ?

आज के अधिकांश श्रीमान् श्रीमंताई के ढोंग में फँसकर गरीबों की ओर ध्यान नहीं देते और न दुखियों की सहायता करते हैं। मगर ऐसा करके वे अपने लिए ही संकट को आमंत्रित कर रहे हैं। अगर श्रीमान् और गरीब के बीच की दिवाल इसी प्रकार चौड़ी बनी रही तो वह दिन दूर नहीं जब 'बोल्शेविज्म' आ जायगा। बनेड़ा में पूज्य श्रीलालजी महाराज ने कहा था कि गरीबों पर दया करो। उनकी उपेक्षा मत करो। ऐसा न किया तो बोल्शेविज्म आ धमकेगा। बस

दशा में आप श्रीमंत कहलाने वालों के संकट में पड़ना पड़ेगा। गरीब आपसे प्रश्न करेंगे—यह धन कहां से लाये हो? तुम्हारी तिजोरियों में जो धन भरा है वह हम गरीबों से ही तुम्हारे पास पहुँचा है। बस हो गया। अब हम गरीब और तुम श्रीमंत नहीं रह सकते। हम सब समान होकर ही रहेंगे। इस प्रकार आज जिन गरीबों की उपेक्षा की जा रही है, वही गरीब आपकी श्रीमंताई खत्म कर देंगे। इसके विपरीत अगर आप श्रीमंताई के ढोंग मे न पड़कर गरीबों की रक्षा करेंगे तो गरीब अपने प्राण देकर भी आपकी रक्षा करेंगे।

इसलिए मैं कहता हूं कि गरीबों की सहायता के लिए खादी को अपनाना सीखो। गरीबों की रक्षा करने पर ही आपकी श्रीमंताई टिक सकती है। अतएव अपनी भलाई के उद्देश्य से भी आपको गरीबों की भलाई करनी चाहिए। मेरी इच्छा है कि आपको सद्बुद्धि प्राप्त हो और आप परमात्मा की शरण में जावें, जिससे आपकी आत्मा का कल्याण हो। तथास्तु।

गांधी जयन्ती

२ – १० – ३७

जामनगर

अन्त्यजोद्धार और जैनधर्म

ठक्कर बापा अन्त्यजोद्धार का जो कार्य कर रहे हैं वह जैनधर्म के सिद्धान्तों से प्रतिकूल नहीं है बल्कि जैनधर्म के अनुकूल है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

सोवागकुल सम्भूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसवलो णाम आसी भिक्खू जिइन्दिओ॥

भगवान् महावीर ने कहा है कि चांडालकुल में उत्पन्न, उत्तम गुणों को धारण करने वाले, जितेन्द्रिय हरिकेश बल नामक मुनि हुए हैं।

इस गाथा से स्पष्ट है कि जैन शास्त्र के अनुसार चांडाल भी जैनधर्म में दीक्षित हो सकते हैं और वे उत्तम गुणों के धारक और जितेन्द्रिय मुनि भी हो सकते हैं। इस प्रकार जैनधर्म के समीप मनुष्यमात्र समान है। जैनधर्म जाति-पांति का कोई भी अनुचित पक्षपात नहीं करता। जैनधर्म की शीतल छाया में प्रत्येक मनुष्य को शान्तिलाभ करने का अधिकार है, चाहे वह नीच समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न हुआ हो, चाहे उच्च माने जाने वाले कुल में। वास्तव में कोई मनुष्य ऐसा हो ही नहीं सकता, जिससे घृणा की जावे या जिसे छूने से छूत लग जावे।

भारत का यह दुर्भाग्य है कि यहां के लोग अपने कुछ भाइयों से ऐसा परहेज करते हैं कि उनके छू जाने मात्र से अपने आपको अपवित्र मानने लगते हैं। अर्थात् वे अपने भाई को भी नहीं छूना चाहते। मगर अछूत कहलाने वाला व्यक्ति क्या समाज का अंग नहीं है? जैसे शरीर का एक अंग दूसरे अंग का सहायक है, उसी प्रकार अन्त्यज भी समाज के सहायक हैं। सिर चरण का सहायक है और चरण सिर का सहायक है। मस्तक ऊँचा माना जाता है मगर चरण की सहायता उसके लिए भी अपेक्षित है। इसी दृष्टि को सामने रखकर महापुरुषों ने चरणस्पर्श करने का विधान किया है; शिरःस्पर्श का विधान नहीं किया है। क्योंकि भले ही सिर ऊंचा हो लेकिन उसकी स्थिति तो पैरों पर ही है। हरिजन ईश्वर के चरण हैं। अतः हरिजनों से घृणा करना ईश्वर को भूलना है और देश को डुबाना है। गनीमत है कि भारत अब करीब अढ़ाई हजार वर्ष बाद फिर इस दिशा में चेता है; और वह हरिजनों का महत्व जानने लगा है। प्रायः यह माना जाता है कि जब बड़े-बड़े रोग मिट जाते हैं तो छोटे रोगों से क्या डरना। इस विचार से कभी-कभी छोटे रोगों की उपेक्षा कर दी जाती है और वे बने रहते हैं। लेकिन हरिजनों के प्रश्न की उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

जैन धर्म के चरम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भारतवर्ष में महान् क्रान्ति की थी। उनकी क्रान्ति का क्षेत्र संकीर्ण नहीं

था। सिर्फ धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं वरन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने क्रान्ति की थी। जाति-पांति के आधार पर उच्चता और नीचता की कल्पना के विरुद्ध उन्होंने उपदेश दिया था और जातिगत अधिकारों का निषेध किया था। मगर भगवान् महावीर का अनुयायी जैनसंघ अपनी मौलिक और वास्तविक मान्यताओं से हटता गया और अपने बहुसंख्यक पड़ोसियों से प्रभावित होता गया। धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया कि उसकी मान्यता सिर्फ शास्त्रों में रह गई और उसका व्यवहार वैसा ही बन गया जैसा कि सर्वसाधारण बहुसंख्यक जनता का था। लेकिन अब जैनसमाज भी हरिजनों के विषय में सचेत हुआ है। जैनसमाज को सोचना चाहिए कि हरिकेशी मुनि चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी अनुत्तर धर्म का पालन करने वाले हुए हैं। ऐसा स्वयं भगवान् ने कहा है। इस प्रकार चाण्डाल कुल से किसी प्रकार का परहेज नहीं किया गया है। फिर आप इतना परहेज क्यों करते हैं? जो लोग आपकी सेवा कर रहे हैं उन्हें आप क्यों भूल रहे हैं? उनके प्रति जघन्य व्यवहार क्यों करते हैं? जब चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने वाले अनुत्तर धर्म का पालन कर सकते हैं तब और क्या कमी रह गई जिसके कारण उनसे घृणा की जाती है? जैनसमाज में छूतछात का भाव मौलिक नहीं है। यह दूसरों के संसर्ग से और कुछ-कुछ अज्ञान के कारण आ गया है। किसी भी जैनशास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं मिल

सकता कि अमुक जाति के मनुष्य को छू लेने से कोई भ्रष्ट हो जाना है।

इस प्रसंग पर कोई हरिजनों में रही हुई खराबियों की बात कह सकता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि उनमें कई बुराइयां भी पाई जाती हैं। मगर संसार में कौन सी ऐसी जाति है जो दूध की धुली हो? किस जाति में अच्छाई व बुराई नहीं पाई जाती? इसके अतिरिक्त हरिजनों की बुराइयों के संबंध में सवर्ण लोग भी उत्तरदायी हैं। यह नियम है कि जिस चीज की सारसंभाल नहीं की जाती वह बिगड़ जाती है। आपने हरिजनों की संभाल नहीं की! उनकी ओर आपकी उपेक्षा रही। इस कारण उनमें खराबी आ गई। आप उनका सुधार कर सकते हैं। इसके बदले उनसे घृणा करना और उन्हें अछूत मानना उचित नहीं है। औरों के बिना तो कदाचित् काम चल सकता है लेकिन जिन्हें आप भंगी कहते हैं और घृणा करते हैं, उनके बिना एक दिन भी काम चलना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, अगर कचहरी और कालेज में कुछ दिन छुट्टी हो जाय तो कोई हानि नहीं होगी—आपका जीवन व्यवहार ज्यों का त्यों चलता रहेगा, लेकिन भंगी अगर एक दिन के लिए ढील कर दें और स्वच्छता न करें तो सारे समाज को कठिनाई में पड़ना होगा।

जैनधर्म कहता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी

मुनि हो सकता है और मुनि होने पर वह महान् से महान् वस्तु का उपदेश ब्राह्मण तक को दे सकता है । ब्राह्मणों ने हरिकेशी मुनि से कहा था—आप यज्ञ क्यों नहीं करते ? इस प्रश्न के उत्तर में हरिकेशी मुनि ने कहा—हम मुनि यज्ञ करते ही हैं । उन्होंने कहा—

सुसंवुडा पंचहि संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकायं सुचइत्तदेहं महाजय जयइ जन्नसिट्ठं ॥

सच्चा त्यागी महामुनि ही सच्चा यज्ञ कर सकता है । इस प्रकार कहकर उन्होंने ब्राह्मणों को भी सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया है ।

यज्ञ का अर्थ आग में घी होमना ही नहीं है । वास्तविक यज्ञ तो वही है जिसका उपदेश हरिकेशी मुनि ने दिया है । आग में घी होमना आदि तो यज्ञ के नाम पर घोटाला चला था और जब यह घोटाला चला था तभी हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणों को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था । गीता में भी कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

गीता में कहा है कि अगर तुम्हारे पास द्रव्य है तो द्रव्य का यज्ञ करो । अर्थात् द्रव्य को 'इदम् न मम' कहकर त्याग दो । द्रव्य न हो तो तपयज्ञ करो । तप करके उसे अपने लिए न रक्खो, किन्तु 'इदम् न मम' कहकर उसका भी यज्ञ

कर दो। अगर तप को अपने लिए रक्खोगे तो तपोमद हो जायगा और उससे आत्मा का पतन ही होगा। अगर तप नहीं है और योग है तो योग का यज्ञ करो। अगर योग को अपने लिए रक्खोगे तो लोगों को चमत्कार दिखलाने में लग जाओगे, जिससे गिरोगे ही उठोगे नहीं। अगर स्वाध्याय करते हो तो उसका भी यज्ञ कर दो। अगर तुम्हारे पास ज्ञान है तो ज्ञान का भी यज्ञ कर दो। स्वाध्याय और ज्ञान का अभिमान मत करो। ससार के कल्याण में इन सब को होम दो।

हरिकेशी मुनि कहते हैं कि यति लोग ऐसा ही यज्ञ करते हैं। आग मे घी होमने का नाम यज्ञ नहीं है। इस प्रकार चाण्डाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी महान् तत्त्व का उपदेश दे सकता है। जैनधर्म उनके प्रति किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता।

प्रश्न किया जा सकता है कि शास्त्र मे नीच गोत्र की बात आई है। फिर छुआछूत जैनशास्त्र से संगत क्यों न मानी जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में कहीं भी नीच गोत्र वाले को अछूत नहीं बतलाया। जैनधर्म का तत्त्व-विवेचन सिर्फ मनुष्य समाज को लक्ष्य करके नहीं है। जैन-शास्त्रों में वनस्पतिकाय तक के जीवों की चर्चा की जाती है। शास्त्र के अनुसार सभी पशु नीच गोत्र कर्म के उदय वाले हैं। क्या कोई उन्हें अछूत समझता है? लोग गाय-भैंस आदि

नीच गोत्र वाले पशुओं का दूध पीने में संकोच नहीं करते]। फिर नीच गोत्र की कल्पना करके किसी मनुष्य को अछूत कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि नीच गोत्र और अस्पृश्यता का कोई अविनाभाव संबंध नहीं है।

तात्पर्य यह है कि ठक्कर बापा हरिजनों के लिए जो कार्य कर रहे हैं, वह कार्य जैनधर्म से प्रतिकूल नहीं है। ठक्कर बापा इसके लिए जो श्रम उठा रहे हैं वह प्रशंसनीय है जैन समाज इसमे अपना सहयोग जितना ज्यादा देगा, वह उतनी ही अपने धर्म की सेवा करेगा। नेहरू परिवार ने भी देश के लिए बहुत त्याग किया है। एक सम्पन्न परिवार का इस प्रकार सादगी से जीवन बिताना आदर्श के अनुरूप ही है।

४-१०-३७
जामनगर

---

* *श्री अमृतलाल ठक्कर और श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के आगमन के अवसर पर दिया हुआ पूज्यश्री का संक्षिप्त भाषण।*

ठक्कर बापा का वक्तव्य

श्री जवाहरलालजी महाराज का नाम बहुत दिनों से सुना करता था। महात्मा गांधी ने भी आपका उपदेश सुनने की इच्छा दर्शायी थी। इसी से जाना जा सकता है कि आपका उपदेश कितना बोधप्रद होगा। आप खादी को अपनाने और हरिजनों का उद्धार करने के उपदेश भी सुन्दर रीति से दिया करते हैं। आपका उपदेश जितना भी माना जाय, कम ही है। हरिजन सेवा का कार्य पराया नहीं है। वे दूसरे नहीं हैं किन्तु अपने घर के ही हैं। अपने घर के किसी आदमी को हल्का या नीच कहकर अलग कर देना अनुचित है। वे तो आपकी सेवा करें और आप उनको छिटकावें, यह भी अनुचित है। इसलिए हरिजनों को छिटकाना नहीं चाहिए। हरिजन किस प्रकार एक निष्ठा से सेवा करते हैं, इसको बताने के लिए मैं आप लोगों के सामने एक उदाहरण रखता हूं। पोरबंदर में मैं नौकर था तब की बात मुझे मालूम है कि एक जैन कुटुम्ब जब कहीं बाहर जाता था तब वह अपने घर की और तिजोरी आदि की चाबियां एक भंगी को दे जाया करता था। उस पर

पूज्यश्री के भाषण के पश्चात् श्री ठक्कर बापा द्वारा दिया गया वक्तव्य।

यह कैसा विश्वास था ? और इस विश्वास का कारण यही है कि हरिजन लोग एक निष्ठा से सेवा करते हैं। इसलिए भ्रातृ-भाव रखकर उन्हें अपना मानना चाहिए और उन्हें धर्म की शिक्षा देनी चाहिए। बस, इतना ही कहकर मैं बैठने की इजाजत चाहता हूँ।

कौन जतन भ्रम भागे ?

प्रणमूं वासुपूज्य जिननायक सदा सहायक तू मेरो ।

यह भगवान वासुपूज्य की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह आशय दिखलाया गया है कि संसारी जीव जो दुःख या विघ्न भोगते है, उन्हें निष्कारण नहीं मानना चाहिये किन्तु यह मानना चाहिए कि वे दुःख और विघ्न सकारण ही हैं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। घड़ा तभी बनता है जब मिट्टी उपादान कारण और चाक आदि निमित्तकारण होते हैं। इस प्रकार घड़ा मिट्टी के होने पर ही बनता है लेकिन घड़ा बन जाने पर भी मिट्टी में से मिट्टी के संस्कार नहीं जाते। मिट्टी मे घड़ा बनने के जो संस्कार हैं, वही संस्कार मिट्टी को घड़े के रूप मे परिणत करते हैं।

जो वस्तु सकारण है—किसी कारण से जिसकी उत्पत्ति हुई है वह मिटने के कारण मिलने पर मिट भी जाती है। जब दुःख सकारण हैं तो उनका भी विनाश हो सकता है।

दुःखों का विनाश किस प्रकार हो सकता है ? इस विषय में ज्ञानीजनों का कथन है कि संसार में जो भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख भोगे जा रहे हैं, वे सब परमात्मा की प्रार्थना करने पर नष्ट हो सकते हैं। इन दुःखों का विनाश करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए

कि—'हे प्रभो ! मेरी बुद्धि में ऐसी प्रेरणा, ऐसी जागृति हो कि मैं यथार्थ तत्त्व को जानने लगूँ ।' इस प्रकार सच्चे अन्तःकरण से परमात्मा की प्रार्थना करने से बुद्धि में ऐसी शक्ति आ जायगी कि वह यथार्थ तत्त्व को जान सकेगी । और जब बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी तब सभी प्रकार के दुःख और ताप मिट जाएंगे ।

परमात्मा की प्रार्थना में कितनी और कैसी शक्ति है तथा प्रार्थना करने से किस प्रकार दुःखों का विनाश होता है, इस विषय में इस प्रार्थना में कहा गया है—

खलदल प्रबल दुष्ट अति दारुण जो चौतरफ करे घेरो,
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी अरियन होय प्रगटे चेरो ॥

हे प्रभो ! तराजू के एक पलड़े में संसार के समस्त दुःख रक्खे जायं और दूसरे पलड़े मे तेरी कृपा रक्खी जाय तो तेरी कृपा का पलड़ा ही भारी होगा । एक पलड़े में संसार के समस्त शत्रुओं को रक्खा जाय और दूसरे में तेरी कृपा रक्खी जाय तो शत्रुओं का पलड़ा ही हल्का रहेगा और तेरी कृपा का पलड़ा भारी ठहरेगा । तेरी कृपा होने पर शत्रु लोग शत्रुता त्याग कर मित्र बन जाएँगे । उनमें मेरे प्रति शत्रुता ही नहीं रहेगी । प्रभो ! कोई शूर पुरुष अपनी शूरता के बल से अपने शत्रुओं को अगर झुका भी ले तो शत्रु अपने शरीर से ही झुकेंगे । शूर पुरुष उनके अन्तःकरण को नहीं झुका

सकता। लेकिन तेरी कृपा होने पर वे अन्तःकरण से नम जाएँगे। जिन्हें मैं अपनी भौतिक शक्ति से नमाता हूँ वे आज नम भी सकते हैं किन्तु कल ऐसा भी अवसर आ सकता है कि मुझको उन्हीं के आगे नतमस्तक होना पड़े। इस तरह वह कभी मेरे सामने नमे और कभी मैं उनके सामने नमूँ, यह शृंखला बन जायगी। लेकिन तेरी कृपा होने पर सदा के लिए शत्रुता का अन्त हो जाता है और वैर की परम्परा नहीं चलती।

कहा जा सकता है कि परमात्मा तो वीतराग हैं, अतएव उनकी प्रार्थना करने से दुःखों का किस प्रकार विनाश हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी जन कहते हैं कि परमात्मा की प्रार्थना से बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी और जब बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी, तब किसी प्रकार का दुःख रह ही नहीं सकता। जो सत्य है वह सक्रिय है, निष्क्रिय नहीं है और जो निष्क्रिय है वह सत्य नहीं है। संस्कृत भाषा में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

> एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृत शेखरः ।
> मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृङ्ग धनुर्धरः ॥

देखो, आकाश के फूलों की माला पहने, खरगोश के सींगों का धनुष धारण किये मृगतृष्णा के जल में स्नान करके वन्ध्या का पुत्र जा रहा है।

इस कथन को आप अपने अनुभव से ही गलत कह देंगे। जो वस्तु वास्तव में है ही नहीं, उसमें क्रिया किस प्रकार हो सकती है ? वंध्या स्त्री के पुत्र हो ही नहीं सकता तो वह गमन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार जो वस्तु सत्य नहीं है— मिथ्या है उसमें सक्रियता नहीं रह सकती। जो सत्य है वह सक्रिय ही होती है। न्यायशास्त्र में तो अर्थक्रिया करना ही वस्तु का लक्षण स्वीकार किया गया है।

परमात्मा की प्रार्थना सत्य है, इसलिए वह सक्रिय होनी चाहिए।

परमात्मा की प्रार्थना सत्य किस प्रकार है और उसमें कैसी शक्ति रही हुई है, यह बताने के लिए इसी प्रार्थना में कहा गया है—

खलदल प्रबल दुष्ट अति दारुण जो चौतरफ दै घेरो।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी अरियन होय प्रगट चेरो॥

प्रार्थना में ऐसी शक्ति तो है लेकिन उस शक्ति का पता तभी लगता है जब प्रार्थना सक्रिय हो। मान लीजिये मणि पास होने से अग्नि शान्त हो गई। यद्यपि यह नहीं दीखता कि मणि ने आग को किस प्रकार शान्त किया है ? फिर भी आग के शान्त हो जाने से यह तो जाना ही जाता है कि मणि में आग को शान्त करने की शक्ति मौजूद है। इसी प्रकार प्रार्थना में भी शत्रुओं को मित्र बना देने की शक्ति विद्यमान

है। मगर उस शक्ति पर विश्वास हो तभी उसका पता लगता है। वास्तव में प्रार्थना में ऐसी शक्ति तो है लेकिन लोगों को इस शक्ति पर भरोसा नहीं है। अगर आप परमात्मा की प्रार्थना का चमत्कार देखना चाहते हैं तो प्रार्थना में अटल विश्वास उत्पन्न कीजिए। विश्वासपूर्वक अन्तःकरण से प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दुःख या उपद्रव नहीं हो सकता। और अगर प्रार्थना करने पर भी दुःख या उपद्रव हो तो समझना चाहिये कि अभी मेरे अन्तःकरण में प्रार्थना पर सम्पूर्ण विश्वास नहीं हुआ है। परमात्मा की प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दुःख नहीं हो सकता, यह बात सिद्ध करने के लिए अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। दूसरों का उदाहरण देने की अपेक्षा मैं अपना ही उदाहरण उपस्थित करता हूँ। मुझे जब परमात्मा की प्रार्थना पर पूर्ण श्रद्धा नहीं थी, किन्तु हृदय में भ्रम था, तब मैं पौने पांच मास तक कष्ट भोगता रहा। मुझे वह भ्रम ही सताता रहा। लेकिन परमात्मा की प्रार्थना पर पूर्ण विश्वास होने के पश्चात् वह भ्रम मिट गया और किसी प्रकार का भय नहीं रहा। अतएव परमात्मा की सक्रिय उपासना करो। विश्वास रक्खो, परमात्मा की सक्रिय प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहेगा।

जिस बड़ के वृक्ष के नीचे हजारों आदमी बैठ सकते हैं और जिसे हाथी भी नहीं उखाड़ सकता, वह बड़ का वृक्ष एक साथ ही तैयार नहीं हो जाता है। अर्थात् चुटकी मारने

ही उसका विस्तार नहीं हो जाता। वह उत्पन्न होता है बीज से, मगर धीरे धीरे उगता है, बढ़ता है, फैलता है और विस्तृत होता है। क्या इसी कारण यह कहा जा सकता है कि वट के बीज में वृक्ष नहीं छिपा है? बीज में वृक्ष है तो अवश्य किन्तु उसके तैयार होने के लिए समय की आवश्यकता है। अलबत्ता धैर्य रखना चाहिए। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना में जो शक्ति रही हुई है, वह भी सहसा दिखाई नहीं देती। उसे प्राप्त करने के लिए भी धैर्य की आवश्यकता है।

कोई कह सकता है—अमुक को परमात्मा की प्रार्थना का फल तत्काल मिल गया और हमें प्रार्थना करते-करते वर्षों हो गये, फिर भी फल नहीं मिला। इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानी यों देते हैं कि वट का बड़ा वृक्ष देखकर आप यह मानते हैं कि इस वृक्ष को लगे अधिक काल हो गया है, इसीसे यह इतना बड़ा हो गया है। इसी प्रकार छोटे वृक्ष को देखकर यह मानते हैं कि अभी इसमें होने वाली क्रिया के लिए काल बाकी है। यही बात परमात्मा की प्रार्थना के विषय में भी समझना चाहिए कि परमात्मा की प्रार्थना से हमें शक्ति नहीं मिल रही है तो इसका कारण यही है कि अभी क्रिया करने का काल बाकी है। अतएव निराश होने की आवश्यकता नहीं बल्कि अधिक तत्परता के साथ क्रिया करते जाना चाहिए और काललब्धि का सहारा

लेना चाहिए। जिस प्रकार काललब्धि का सहारा लेकर क्रिया करते जाने पर वड़ का छोटा वृक्ष भी बड़ा हो जाता है, इसी प्रकार धैर्य रखकर परमात्मा की प्रार्थना करते रहने से क्रिया का परिपाक होने पर फल की प्राप्ति होगी ही। निराश मत होओ, क्रिया किये जाओ और सावद्य योग से बचते रहो। सावद्य योग परमात्मा की प्रार्थना के फल को कलुषित कर देता है।

सावद्य योग किसे समझना चाहिए ? इस विषय में कहा गया है—

कम्ममवज्जं जं गरहियं ति कोहाइणो य चत्तारि ।
सह तेहिं जो उ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स ॥

इस गाथा में सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका आशय यह है कि निन्दनीय कर्म को सावद्य कहते हैं। अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को भी सावद्य योग कहते हैं, क्योंकि समस्त निन्दनीय कर्म क्रोध आदि के अधीन होकर ही किये जाते हैं। क्रोध आदि निन्दनीय कर्म के कारण हैं अतएव कारण में कार्य का उपचार करके क्रोध आदि को भी सावद्य कर्म कहा है। ऐसे सावद्य के साथ किये जाने वाले व्यापार को सावद्य योग कहते हैं। उस सावद्य योग का विरोध करना सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

गाथा में प्रयुक्त हुए 'सावज्ज' शब्द का अर्थ 'सावर्ज्य'

भी होता है। और 'सावद्य' भी होता है। जो कर्म पाप-युक्त होते हैं वे 'सावद्य' कहलाते हैं और जो कार्य गर्हित या निन्दित होते हैं वे 'सावर्ज्य' कहे जाते हैं। आर्य किसे कहते हैं, यह बतलाने के लिए मैंने कहा था—

आरात् सकल हेय धर्मभ्य इति-आर्यः।

अर्थात् जो समस्त पाप कर्मों का त्याग करता है वह आर्य कहलाता है। जो आर्य द्वारा त्यागे गये या निन्दित कार्य हैं वे सावद्य हैं। श्रेष्ठ लोग निन्दित कार्य नहीं करते किन्तु श्रेष्ठ कर्म ही करते हैं। जिन कार्यों से अपना और संसार का भला हो वे कार्य श्रेष्ठ हैं और जिनसे दोनों का अहित होता है वे निन्दित कर्म हैं। कल्पना करो कि दुनियां के सब लोग जुआ खेलने लगें तो क्या दुनियां के लोगों की हानि नहीं होगी? प्रकट रूप से तो जुआ में थोड़ा आरंभ दीखता है, लेकिन जुआ खेलना वास्तव में दुनिया के लोगों के लिए अहितकर है। अतएव शास्त्र में इसे महाप्रमाद कहा है इसी प्रकार ससार के सब मनुष्य चोरी करने लगें तो ससार का काम कैसे चल सकता है? ऐसा होने पर संसार में दुःख ही दुःख छा जायगा। इसलिए ऐसे कार्यों को निन्दित कर्म माना गया है। इसी प्रकार के कार्यों को सावर्ज्य कर्म भी कहते हैं।

संसार में जितने भी पाप होते हैं, क्रोध, मान, माया और

लोभ से होते हैं। इसीलिए इन कारणों में कार्य का उपचार करके इन्हें भी सावद्य कर्म माना गया है और इन कारणों के अधीन होकर किये गये कार्य भी सावद्य हैं।

आज पिछली रात में, एक बात मेरे ध्यान में आई। वह बात मैं आप लोगों के सामने प्रकट करता हूँ, क्योंकि आपका और मेरा आत्मा समान ही है और जो वस्तु मेरी आत्मा के लिए लाभप्रद हो सकती है वही आपकी आत्मा के लिए भी लाभप्रद हो सकती है। संभव है इस बात को मेरी आत्मा न अपना सके और आपकी आत्मा अपना ले। यह विचार कर वह बात मैं आपके समक्ष कहता हूं। भक्तों के शब्दों में ही वह बात कहता हूँ—

हे प्रभु ! कौन जतन भ्रम भागे।
देखत सुनत विचारत यह मन,
निज स्वभाव नहीं त्यागे। हे प्रभु० ॥

हे प्रभो ! मेरे मन का स्वभाव किस प्रकार बदला जा सकता है ? यह सभी कुछ देखता है, सुनता है, विचारता है, लेकिन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता मैंने बहुत ग्रंथ देखे, बहुत सत्संग किया, बहुत भक्ति ज्ञान वैराग्य आदि किया, लेकिन मेरे मन का स्वभाव तो यही है कि या तो मेरी प्रशंसा हो या मुझे गुरु मिले ! भले ही मैं कभी किसी से बाहरी वस्तु न मागूँ, लेकिन यह लालसा तो मेरे मन में बनी ही रहती

है कि लोग मुझे भला कहें। बल्कि मैं ने जो कुछ किया है और जो कुछ कहता हूँ, वह सब इसलिए कहता हूँ कि लोग मुझे भला कहें। प्रभो! मेरे मन का यह भ्रम कैसे मिट सकता है?

यह भक्तों का कथन है। भक्त जो कुछ कहते हैं उसके लिए अपने अन्तरात्मा से पूछो कि वह आपके विषय में भी सत्य है या नहीं? आप धर्मक्रिया किसलिए करते हैं? किसी प्रकार की प्राप्ति के लिए धर्मक्रिया करते हैं या निर्जरा के लिए? यह बात दूसरे की आत्मा के लिए आप नहीं जान सकते मगर अपनी आत्मा के लिए तो जान ही सकते हैं। दूसरे की आत्मा तो अनुमान से ही जानी जाती है किन्तु स्वयं की आत्मा को तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जानते हो। अपना आपा आपसे छिपा हुआ नहीं है। अतएव अपनी आत्मा से पूछो कि-हे आत्मा! तू धर्मक्रिया किस उद्देश्य से करती है? धर्मकरणी के पीछे अगर किसी प्रकार की लालसा लगी हुई है तो समझ लो कि अभी आप सच्ची धर्मकरणी से दूर हैं। अतएव किसी प्रकार की लालसा से धर्मक्रिया मत करो, किन्तु कर्मों की निर्जरा के लिए करो और निन्दित कर्म से बचते रहो।

किस प्रकार निन्दित कर्म से बचना और अनिन्दित कर्म करना चाहिए, यह बात समझने के लिए महाभारत का एक उदाहरण लीजिए।

विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराजा युधिष्ठिर भीष्म के पास गये। भीष्म ने उनसे कहा—'महाराज युधिष्ठिर ! आइए।'

युधिष्ठिर शर्मिन्दा होकर बोले—आप मुझे महाराज न कहिए, पौत्र ही कहिए।

भीष्म—जिस पद को प्राप्त करने के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ है, जिस पद के लिए अनगिनती स्त्रियां विधवा हुई हैं और अनेक बालक अनाथ हो गये हैं तथा जिस पद के लिए कुल का संहार हुआ है, वह पद प्राप्त करने के पश्चात् आपको 'महाराज' क्यों न कहा जाय ?

युधिष्ठिर—पितामह, मैं इस पाप के दबाव से ही आपके पास आया हूँ। मुझे जो राजमुकुट प्राप्त हुआ है, उसमें शूल ही शूल जान पड़ते हैं। वह मुझे ऐसा चुभता है जैसे शूलों का बना हुआ हो। मैंने महल की अटारी पर चढ़कर देखा तो राजमुकुट और भी अधिक सुइयों से भरा हुआ जान पड़ा। जो मेदिनी वीरों से भरी थी, आज वह सुनसान दीख पड़ती है। यह देखकर सिर का मुकुट हृदय में शूल सा चुभने लगा। मैं यही सोच रहा हूँ। कि इस मुकुट के पाने के लिए कितना पाप हुआ है और कितना सावद्य योग करना पड़ा है ?

युधिष्ठिर के कथन पर से आप अपने संबंध में विचार कीजिए। आपके सिर पर जो पगड़ी है, उसके लिए किस-किस तरह के पाप होते हैं ? अपने शरीर का रक्त-मांस बढ़ाने के

लिए दूसरों को किस प्रकार के दुःख दिये जाते हैं ?

युधिष्ठिर का कथन सुनकर भीष्म पितामह ने सोचा— युधिष्ठिर घबरा गया है। इस समय इसे धैर्य देने की आवश्यकता है। इसका चित्त इतना कोमल और धर्मभीरु है कि धर्मभावना का विचार होने पर यह राजमहल त्याग देगा। इस प्रकार विचार कर पितामह ने कहा—अगर तुम महाराज युधिष्ठिर कहे जाने में संकोच करते हो तो अब से मैं बेटा युधिष्ठिर कहूँगा।

भीष्म पितामह के मुँह से अपने लिए बेटा शब्द सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वह बालक की तरह नम्र होकर पितामह के समीप जा बैठे। इसके अनन्तर उनका हाथ अपने सिर पर रखकर कहने लगे—पितामह, राजमुकुट मुझे तो शूल की तरह चुभ रहा है, कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं शान्तिलाभ कर सकूँ।

भीष्म धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। जैनशास्त्र भी यही कहते हैं। और महाभारत भी। वे पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध हैं। जैनशास्त्र के अनुसार भी उन्होंने अविवाहित जीवन ही बिताया था। अतएव वे सारे जगत् के पितामह बनने के योग्य ही थे।

भीष्म कहने लगे—बेटा युधिष्ठिर ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो। अलबत्ता यह सोचो कि विजय के लिए तुम्हें जो

सहायता मिली, वह किस प्रकार मिली है ? दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें वह सहायता मिली थी। दुर्योधन का पाप फूट निकला था और इस कारण लोग समझने लगे थे कि दुर्योधन बड़ा पापी है जो धर्मनिष्ठ पाण्डवों को इस प्रकार कष्ट दे रहा है। यह सोचकर लोग स्वयं ही अपना सिर कटाने के लिए तैयार होकर तुम्हारी सहायता के लिए आये थे। इस प्रकार दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें सहायता मिली थी। इसीसे तुम विजयी हुए हो। दुर्योधन का पाप तुम्हारी विजय और उसके विनाश का कारण बना है। ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह, यह तो ठीक है। लेकिन युद्ध के कारण जो वैर बंध गया है वह तो मेरे सिर पर ही रहा न! जिन लोगों के घर वाले मारे गये हैं उनका वैर मेरे और दुर्योधन के प्रति बंध गया है। दुर्योधन तो मर गया है और मरे हुए से वैर नहीं भंजाया जाता। वैर का बदला तो जीते हुए से ही लिया जाता है। अतएव दोनों पक्ष के लोग मुझे ही वैरी समझेंगे। वे यही मानेंगे कि हमारे पिता, पुत्र, भाई या पति की मृत्यु का कारण यही युधिष्ठिर है। यह वैर की स्मृति मुझे कष्ट पहुँचा रही है और इसी कारण यह मुकुट मुझे कांटों की तरह चुभता है।

भीष्म पितामह—ठीक है, पर इस वैर को तुम अपने

विशिष्ट वृत्ति के द्वारा शान्त कर डालो। ऐसा करोगे तभी तो तुम राजा हो।

युधिष्ठिर—पितामह, इसीलिए मैं आपके पास आया हूँ। इस सम्बन्ध में आप मुझे उचित उपदेश दीजिए। मैं जानना चाहता हूँ कि जो वैर बंध गया है वह क्या मिटाया जा सकता है ? किस प्रकार उसका शमन किया ज सकता है ?

भीष्म—संसार में ऐसी कोई आग नहीं है जो सुलगे और बुझे नहीं। इसी प्रकार जब वैर बंधता है तो मिट भी सकता है। लेकिन दूसरे के वैर को शान्त करने के लिए पहले अपने हृदय को शान्त करना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी राजा ने तुम्हारी सेना को या तुम्हारे किसी संबंधी को मारा होगा परन्तु उसकी स्त्री या उसके बालकों ने तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा है ! अतएव जहां तक संभव हो, उनकी ऐसी सहायता करना जिससे वे समझने लगें कि युधिष्ठिर हमें सुखी बनाने के लिए ही युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। जब तुम उनके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर दोगे तो वैर का शमन आप ही हो जायगा। बँधा हुआ वैर रोने से नहीं मिट सकता। अगर रोना था तो युद्ध करने से पहले ही रोना था। जब युद्ध आरंभ होकर समाप्त भी हो गया और अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो चुका तब रोने से क्या लाभ है ? अब रोना त्यागो और सब को शान्ति पहुंचाओ।

तुम कहते हो, जिस भूमि पर वीर ही वीर दिखाई देते थे, आज वह सुनसान दिखाई देती है। लेकिन इस विचार से दुःखी होने की क्या आवश्यकता है? बीज शून्य भूमि में ही बोया जाता है, उस भूमि में नहीं बोया जाता जहां कांटे और झाड़-झंखाड़ खड़े हों। जब कांटे साफ हो गये और बीज बोने का समय आया है तब तुम रोने बैठे हो? रोना छोड़कर इस शून्य भूमि में ऐसा बीज बोओ कि लोग दुर्योधन को भूल जाएँ। विचार करो, लोग दुर्योधन को बुरा क्यों कहते थे? इसी कारण कि वह स्वार्थी था और उसकी सज्जनता एवं नम्रता को सत्ता खा गई थी। अगर तुमने भी अपनी सज्जनता को सत्ता का ग्रास बन जाने दिया तो तुम में और दुर्योधन में क्या अन्तर रहा? बल्कि तुम जिस धर्म का प्रदर्शन करते हो वह ढोंग मात्र रह जायगा और इस प्रकार तुम दुर्योधन से भी ज्यादा बुरे हो जाओगे। अतएव सत्ता मिलने पर सज्जनता को मत भूलना। इसकी रक्षा करना स्मरण रखना कि सत्ता जाय तो भले जाय मगर सज्जनता न जाय।

सिर जावे तो जाय मेरा सत्य धर्म नहीं जावे।
सत्य की खातिर रामचन्द्रजी वन-वास जावें ॥ मेरा० ॥

राम को राज्य मिलने की तैयारी थी लेकिन पिता का सत्य जाने लगा। तब राम ने सोचा—जिस राज्य से पिता का सत्य जाता है उस राज्य को लात मारना ही उचित है।

ऐसा सोच कर वे राज्य का परित्याग कर वन को चल दिये। राम राजपुत्र थे और जन्म से सुखों में ही पले थे। फिर भी सत्य की रक्षा के लिए उन्होंने वन-फल खाना स्वीकार किया किन्तु अपनी सज्जनता नहीं जाने दी।

कामदेव और अरणक पर कैसी विपत्ति आई थी? अरणक के जहाज को पिशाचरूपधारी देव उंगली पर उठाकर आकाश में ले गया था। वह कहता था कि तू सत्य को छोड़ दे अन्यथा मैं तेरे जहाज को यहीं से छोड़ता हूँ। तेरा जहाज समुद्र के अथाह जल में विलीन हो जायगा और तुझे प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा। अरणक जहाज के व्यापार के लिए ही गया था। ऐसी स्थिति में उसे जहाज का प्रिय लगना स्वाभाविक ही था। अरणक सोच सकता था कि 'धर्म छोड़ा' कह देने मात्र से क्या बिगड़ जाता है! इतना कह देने से अगर जहाज बचता है तो बचा ही लेना चाहिए। मगर नहीं, अरणक ने ऐसा विचार नहीं किया वह सोचता था कि मेरी सज्जनता पहले है, सत्य पहले है और जहाज फिर है। जहाज डूबता हो तो भले डूबे। सत्य का मैं परित्याग नहीं कर सकता। मैं धर्म और अधर्म का अन्तर प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, फिर धर्म का परित्याग कैसे कर दूं? धर्म न होने के कारण ही यह पिशाच मेरा जहाज डुबा रहा है। जहाज की रक्षा हुई तो धर्म से ही होगी। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

आपके सिर पर ऐसा संकट तो नहीं आया होगा, फिर भी आप दमड़ी-दमड़ी के लिए तो असत्य का आश्रय नहीं लेते ?

पितामह का उल्लिखित वक्तव्य सुनकर युधिष्ठिर सोचने लगे—मैं तो भागना चाहता मगर पितामह ने मेरे मस्तक पर और ज्यादा बोझ डाल दिया। मुझे पितामह का परामर्श स्वीकार करना चाहिए और संग्राम मे मारे गये लोगों के परिजनों को शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मैं क्रियात्मक सत्य का पालन कर सकूँगा।

सारांश यह है कि सावद्य कार्यों से समझदार व्यक्ति को वैसा ही पश्चात्ताप होता है जैसा युधिष्ठिर को हुआ था। मगर कोरे पश्चात्ताप से क्या लाभ है ? जिस कार्य के लिए पश्चात्ताप किया जाता है, उससे आगे के लिए उपरत होना आवश्यक है। और इस उपरति के लिए परमात्मा की प्रार्थना सरल और श्रेष्ठ साधन है। अगर आप सावद्य योग से बचकर परमात्म-प्रार्थना में अपना चित्त लगाएँगे तो आपका कल्याण होगा।

लघुता-प्रकाश

[पूज्यश्री की जयन्ती के उपलक्ष्य में अनेक वक्ताओं ने प्रासंगिक भाषण किये थे। उन सब भाषणों के पश्चात् पूज्यश्री का प्रवचन हुआ। उसी का आशय यहां दिया जा रहा है।]

आप लोगों ने आज जो कुछ सुनाया है, उस पर विचार करते-करते, यहां बैठे-बैठे मुझे एक विचार आया है। उपनिषद् में एक वाक्य आया है—

यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया पालनीयानि ।

गुरु अपने शिष्य से कहता है—हे शिष्य! मुझ में जो सुचरित्र हो उसी का तू पालन करना। अगर मुझमें कोई बात प्रपंच भरी जान पड़े तो उसे तू ग्रहण मत करना। जिस बात को तेरी आत्मा स्वीकार न करती हो उसे तू मत मानना। तू उसी को अंगीकार कर जो बात अच्छी हो।

यही बात मैं आप लोगों से कहता हूं। आप लोगों ने मेरी प्रशंसा में जो कुछ कहा है वह मेरे लिए भार रूप है। वास्तव में मुझे भाषा का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है। गुरु-चरणों के प्रताप से विरासत मे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है या जो कुछ मैं प्राप्त कर सका हूँ वही आप लोगों को सुनाता हूँ और

उसी के द्वारा सब की आत्मा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ। उस बात को सुनाने में मुझसे कोई भूल होती हो और जिसे स्वीकार करना आपकी आत्मा को अनुचित प्रतीत होता हो, उसे आप भले स्वीकार न करें। लेकिन जिस चीज को आपकी आत्मा उचित समझे उसे स्वीकार करो।

मैं अपनी उम्र के बासठ वर्ष समाप्त करके त्रेसठवें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। यद्यपि मेरी इच्छा ऐसी रहती है कि मैं अपनी आत्मा का कल्याण करने में ही निरन्तर लगा रहूँ और किसी भी दूसरे प्रपंच में न पड़ूँ, लेकिन कह नहीं सकता कि ऐसा सुअवसर कब प्राप्त होगा। फिर भी मेरी भावना तो यही बनी रहती है। आप सबने मेरे विषय में जो कुछ कहा है, उसे सुनकर मेरे चित्त में किसी प्रकार का अभिमान नहीं आना चाहिए। मैं यह सोचता हूँ कि मुझ में जो गुण बतलाये गये हैं वे गुण अभी पूरी तरह नहीं आ पाये हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिए। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो और सद्भावना प्राप्त करके मैं स्व-पर का कल्याण साधन करूँ। एक कवि ने बड़ी सुन्दर बात कही है उसे आपको सुना देना उचित प्रतीत होता है। कवि कहता है:—

जोई जोई मोतियो चणजे हंस,
मोल भयों सिंधु छलके,
पण बिन्दु मधुर न मलके हंस।

अर्थात्—हे हंस ! तू मोती तो चुगता है पर देख-देखकर चुगना । समुद्र भरा है और छलक रहा है; किन्तु उसके सब बूंद मधुर नहीं होते और न उसकी प्रत्येक छलक मे मोती होते हैं । इस कारण हे हंस, तू देख-देखकर मोती चुगना ।

यही बात मैं आपसे कहता हूं । आपके समक्ष मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे आप विचार करने के बाद ग्रहण करना । मेरा कथन उचित हो तो ग्रहण करना । उचित न हो तो छोड़ देना । मैंने अपने गुरु से जो कुछ प्राप्त किया है, उसका भली भांति पालन करने में अभी तक मुझे पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है । मुझ में अभी तक बहुत अपूर्णता है । मैं चाहता हूँ कि मेरी यह अपूर्णता मिट जाय । मैं परमात्मा से भी यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरी यह इच्छा पूर्ण हो ।

जैसे हंस मोती चुगता है, उसी प्रकार आप मेरे कथन में से अच्छी-अच्छी बातें चुनकर ग्रहण करें समुद्र में लहरें बहुत आती हैं पर सभी लहरों में मोती नहीं आते । लेकिन मोती चुगने वाला हंस लहरों में से मोती चुग ही लेता है । आप भी हंस की भांति विवेकबुद्धि प्राप्त करो और मोती के समान अच्छी बातों को स्वीकार कर लो और शेष का परित्याग कर दो । मैं भी हंस के समान बनना चाहता हूँ । जैसे हंस दूध और पानी को पृथक् कर देता है और मोती को ही चुगता है, उसी प्रकार मैं भी अच्छी बातों को ही ग्रहण करना

चाहता हूँ।

हम साधुओं को मनुष्यों के परिचय में बहुत आना पड़ता है। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि इन मनुष्यों में से हम मोती जैसे सद्गुणों को ही ग्रहण करें। मोती बीनने वाला कभी-कभी फिसल भी जाता है। मैं चाहता हूँ कि सद्गुण रूपी मोती बीनते समय मैं कभी फिसल न जाऊँ और अपने पुरुषार्थ के द्वारा गुण-मोतियों को ही ग्रहण करता रहूँ। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि मेरी यह भावना पूर्ण हो!

जामनगर
६-११-३७